THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

JAINADARSHANA SARA

A Work on Jaina Philosophy

By

Pandit CHAINSUKHDASS NYAYTIRTHA

PRINCIPAL

THE JAIN SANSKRIT COLLEGE JAIPUR

Edited with Introduction and Notes

by

C. S. MALLINATHAN

Translated in Hindi

By

Pt. M. C. Shastri, Nyaytirtha

Third Edition :

1000 COPY 1974 Price Rs. 4/-

Published by :

B. L. Nyaytirtha
Secty. N. L. Baj Trust
JAIPUR (Raj).

To be got from
Veer Pustak Bhandar
Maniharon ka Rasta,
Jaipur-3 (Raj)

Printed by

Shree Veer Press
Maniharon ka Rasta,
JAIPUR-3

स्व० नाथूलालजी बज (तोपखाना वाले) जयपुर का जन्म पौष वि.स १९५९ मे हुआ और स्वर्गवास भाद्रपद शु० ९ विक्रम सं० २०२५ को। स्वर्गवास से पूर्व २६ फरवरी ६९ को आपने नो हजार रुपये की राशिका एक दानपत्र लिखकर उसके ट्रस्टी श्री प० चैनसुखदासजी, श्री नाथूलालजी पोल्याका, श्री भवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, श्री भँवरलालजी न्यायतीर्थ, श्री कोकलचदजी रारा को मनोनीत किये। आपके स्वर्गवास के पश्चात् ट्रस्ट पत्र के अनुसार ४०००) रु० श्री दि० जैन सस्कृत कालेज को तथा दो हजार रुपया श्री दि० जैन औषधालय को देकर अवशिष्ट राशि साहित्य प्रकाशन के लिए सुरक्षित रखी गई। प्रस्तुत पुस्तक जैन दर्शनसार हिन्दी अनुवाद सहित इसी ट्रस्ट से, छपाई गई है। साधारण गृहस्थ होते हुए भी श्री बज साहब ने उपार्जित द्रव्य का जो सदुपयोग किया वह प्रशसनीय है एवं अनुकरणीय है।

विषयानुक्रमः (Contents)

तृतीय संस्करण : दो शब्द		1
Preface	—	5
Introduction	—	9
प्रथमोऽध्यायः—	—	
मङ्गलम्	—	१
ग्रन्थ-संगतिः	—	१
जीवतत्त्वविवेचनम्	—	२
उपयोगमयत्वं	—	४
अमूर्तित्व	—	५
कर्तृत्व	—	७
स्वदेहपरिमाणत्वं	—	८
भोक्तृत्वं	—	१३
उर्द्ध्वगतिस्वभावत्वं	—	१३
सिद्धत्वं	—	१४
अजीवतत्त्वम्	—	२३
पुद्गलद्रव्य	—	२४
धर्माधर्मद्रव्यसिद्धि	—	२८
आकाशद्रव्यम्	—	३२
कालद्रव्यम्	—	३४
आस्रवतत्त्वम्	—	४०
बध-तत्त्वम्	—	४२

संवरतत्त्वम् — ४५

निर्जरातत्त्वम् — ४५

मोक्षतत्त्वम् — ४६

द्वितीयोऽध्यायः— —

लक्षणस्वरूपम् — ५२

प्रमाणसामान्यस्वरूपम् — ५४

स्वतस्त्वपरतस्त्ववादः — ५८

प्रमाणविशेषप्रत्यक्षस्वरूपम् — ६१

प्रमाणविशेषपरोक्षस्वरूपम् — ६९

स्मृतिप्रामाण्यसमर्थनम् — ७०

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यसमर्थनम् — ७१

तर्कस्य पृथक्प्रामाण्यसमर्थनम् — ७४

अनुमानप्रामाण्यसमर्थनम् — ७७

आगमप्रमाणस्वरूपम् — ८५

तृतीयोऽध्यायः— —

नयस्वरूपम् — ९०

स्याद्वादनिरूपणम् — १०१

सप्तभंगीविवेचनम् — १०६

अहिंसातत्त्वम् — १३२

जातितत्त्वमीमांसा — १४८

चतुर्थोऽध्यायः— —

निक्षेपस्वरूपविवेचनम् — १५४

Notes — १६७

तृतीय संस्करण :-

जयपुर

जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् श्रद्धेय गुरुवर्य स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ द्वारा रचित 'जैन दर्शनसार' का यह तृतीय संस्करण छपा है। पडितजी ने इस छोटे से ग्रंथ में जैन दर्शन के प्रमुख सभी सिद्धान्तो का सक्षिप्त और सरल रूप में विवेचन कर पुस्तक को बडी उपयोगी बनाया है। वे जैन दर्शन के तो अद्वितीय विद्वान् थे ही, इतर दर्शनों का भी तलस्पर्शी ज्ञान उन्हे था। उनकी प्रतिभा चतुर्मु खी था। दर्शन, न्याय, सिद्धान्त, साहित्य, व्याकरण, काव्य आदि सभी विषयों मे वे पारंगत थे।

उनका जन्म मारवाड में 'भादवा' नामक ग्राम मे २२ जनवरी १८६६ मे हुआ। प्रारभिक शिक्षा ग्राम मे ही प्राप्त की। विशेष अध्ययन के लिए बनारस गये। वहां एक मेधावी छात्र रहे। स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस में उनने संस्कृत, दर्शन, साहित्य और न्याय का अध्ययन किया। न्यायतीर्थ परीक्षा पास कर सन् १९१९ मे वापस आये और कुचामन विद्यालय में प्रधानाध्यापक बने। वहां पूरे एक युग तक सस्था का सचालन किया। सन् १९३१ में जयपुर दि० जैन सस्कृत कालेज के प्राचार्य होकर आये और तब से आजीवन २५ जनवरी सन् १९६९ तक इस पद पर कार्य करते रहे। २६ जनवरी १९६९ को आपका स्वर्गवास हुआ। इस तरह आजीवन ब्रह्मचारी रह कर सारा जीवन मां सरस्वती की उपासना में उनने व्यतीत किया।

आप हिन्दो व सस्कृत में गद्य और पद्य दोनो में ही रचनाएं करते थे। "भावना विवेक", "पावन प्रवाह" आदि संस्कृत के

स्वतंत्र ग्रंथों की आपने रचना की। "संयम-प्रकाश" जैसे विशाल ग्रंथ (१० भागों) का सम्पादन किया, "सक्षिप्त सर्वार्थ सिद्धि", "प्रवचन प्रकाश", "अर्हत्प्रवचन" आदि सग्रह ग्रंथों को निवद्ध किया, कइयों के अनुवाद किये। कई पत्र पत्रिकाओ का सम्पादन किया। सन् १९४७ से तो जीवन पर्यन्त वरावर वीरवाणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे और सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा मौलिक और प्रेरणाप्रद साहित्य प्रदान किया। इसके पूर्व "जैन दर्शन", जैन बन्धु आदि पत्रों का सम्पादन किया। आप पर सरस्वती का वरद हस्त था। आपकी योग्यता अद्भुत थी। आचार्य एव एम ए. के. छात्रो को आप वखूबी पढाते थे। कई शोध छात्रों को विषय की तैयारी आप कराते थे। घरेलू, सामाजिक कई झगडे आप निपटाते--देश व समाज में व्याप्त बुराइयो का डटकर विरोध करते थे। विद्यार्थियों और असहायों के वे सव कुछ थे। इस तरह आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। आपने यह 'जैन दर्शनसार' ग्रंथ रचकर एक बहुत वडी आवश्यकता की पूर्त्ति की है।

छात्रों की माग थी और आपने स्वयं भी यह महसूस किया था कि 'जैन दर्शनसार' का हिन्दी अनुवाद हो जाय तो छात्रों को सहूलियत हो। द्वितीय संस्करण के समय यह चर्चा चली। कुछ पृष्ठों का मैंने अनुवाद भी किया, किन्तु पुस्तक छपाने की जल्दी थी--अनुवाद इतना जल्दी न हो सका, अत: द्वितीय संस्करण जैसा का तैसा ही छपा और हिन्दी अनुवाद की बात भी योही रह गई। अब तृतीय संस्करण हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत है। अनुवादक है गुरुवर्य प० चैनसुखदासजी के प्रमुख शिष्य प० मिलापचन्दजी शास्त्री, न्यायतीर्थ। आप दर्शन के अच्छे विद्वान् और सफल प्रवक्ता हैं। यह अनुवाद सरल और सुगम्य है। इससे छात्रो को विषय के समझने मे जहा सहूलियत होगी,

वहां संस्कृतानभिज्ञ 'हिन्दीभाषी' ज्ञानपिपासु एव स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं को भी जैन दर्शन के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की सरलता से जानकारी मिल सकेगी। अनुवादक महोदय धन्यवादार्ह है। श्री मल्लिनाथन् की प्रस्तावना भी बडी महत्व की है–वह तथा पारिभाषिक एवं क्लिष्ट शब्दो के नोट्स भी पूर्व संस्करण की तरह इसमें है ही।

प्रस्तुत तृतीय सस्करण है। इसके पूर्व सन् १९५० में प्रथम एवं सन् १९६५ मे द्वितीय संस्करण छप चुके है। श्री नाथूलाल बज ट्रस्ट की ओर से यह तृतीय सस्करण छपा है। स्व० श्री नाथूलालजी बज की श्रद्धेय प० चैनसुखदासजी पर बडी श्रद्धा थी। उन्ही के प्रेरणा से शिक्षा-संस्था, औषधालय एवं साहित्य प्रकाशन हेतु श्री बजजी ने जो ट्रस्ट बनाया–उसके लिए हम उस दिवंगत आत्मा के आभारी है।

प्रस्तुत संस्करण का प्रूफ पढ़ने में श्री पं० भवरलालजी पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य ने जो सहयोग प्रदान किया है–एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र है।

आशा है छात्र एवं पाठकगण इससे लाभ उठावेगे।

मनिहारो का रास्ता, जयपुर–३

भंवरलाल न्यायतीर्थ
१–७–७४

PREFACE
of
1st. Edition

The Jaina Darshana Sara is prescibed as a Text-Book for M. A. by the Rajputana (Raiasthan) University. I have great pleasure in editing this work which is written by my much esteemed and learned friend Pandit Chainsukhdas, Nyaytirtha, the Principal of the Jain Sanskrit College, Jaipur. He is well acquainted with all the Indian systems of Philosophy and as such he can, with a certain amount of authority, speak or write on any subject connected with them. I am conscious of my incapacity to edit the book. But I have done it only as a labour of love and I hope the students may find the Introduction and the Notes to be of some help to them.

JAIPUR
1 st February, 1950

C. S. Mallinathan.

Introduction *

Jaina Darshana or the Jaina religion was revealed to mankind, in this cycle of time, by twentyfour Tirthamkaras[1] or Jinas[2], who lived at long intervals of time. Lord Rishabha, the first Tirthamkara is mentioned in Srimad Bhagavatam as an incarnation of Vishnu. This incarnation took place long long before Vamana Avatara. Shri Rama lived in the time of the twentieth Tirthamkara Shri Munisuvrata and Shri Krishna was a cousin of Shri Neminatha the twenty second Jina. Shri Parsva Natha, the 23rd Tirthamkara lived about 250 years before Lord Mahavira, the Last and the 24th Tirthamkara, who flourished in Magadha from 599 B. C. to 527 B. C. Mahavira was an elder contemporary of Lord Buddha. From the Buddhistic

---

*In writing this Introduction I have drawn much matter from the articles on the different subjects relating to Jainism contributed by Prof. A. Chakravarti to The Jaina Gazette during the years 1921 to 1923.

1. A Tirthamkara is one who makes a Tirtha (sacred path) by which the mundane souls can cross the ocean of Samsara and reach the Heaven of Eternal Bliss.

2. A Jina is one who conquers the enemies (karmas) of his Self and attains complete freedom.

texts we learn that Buddha himself was for some time a naked Jaina Saint practising the rules of conduct of a Jaina Ascetic, such as lying down on the bare ground, fasting and taking food from the palms of his hand. In course of time he found it difficult to practise these rules and so he began to adopt and preach the middle path (Maddhyama Marg) midway between the extreme ascetic life of the Jainas and the moral laxity of the other ascetic orders. This is clearly indicated by his own description of his early ascetic life as narrated to his disciple Sariputta. From this we find that Jainism was already existing in the time of Buddha. There are references to Lord Rishabha in the Vedic hymns, and Puranas of the Hindus. And so it can be safely said that Jainism is at least as old as the Vedic Religion.

The teachings of Jainism can be studied under the following heads:—

Universe.

According to Jainism the Universe is existing from eternity though undergoing modifications. It is composed of six Dravyas or Substances namely, Souls, Matter, Dharma (Principle of motion), Adharma (Principle of rest), Space and Time. Of these six Dravyas souls are sentient. We shall consider the characteristics of soul subsequently.

Matter (pudgala) has shape and possesses touch, taste, smell and colour. It is of two kinds, Skandhas (molecules) and Paramanus (primary atoms). Molecu'e has all the physical qualities without any exception. Primary atom is the indestructible material basis of the world. The primary atom is eternal, non-sounding, occupying one space-point and of corporeal form. Dharma (Principle of motion) assists the movement of moving jivas and pudgala as water helps the moving fish. Adharma (Principle of rest) assists the resting of jivas and pudgala which are at rest in the same way as shadow helps the resting of travellers. Both Dharma and Adharma are eternal without form, without activity, non-living and coextensive with the world space. How are we to believe in the existence of Dharma and Adharma, the principles of motion and rest? We see around us things moving, coming to rest, again moving and so on. There must be some media to help the moving and resting of things. If there were no medium of motion (Dharma) all things in the universe will be at a standstill. There will be universal cosmic paralysis. If there were no medium of rest (Adharma), the atoms constituting the world will be scattered and flying about in the space and instead of Cosmos there will be only chaos. Hence the existence of these two Dravyas (substance) is postulated. Akasa or Space is

eternal pervasive, formless and gives room to all the other Dravyas to exist in it. The Space which is co-extensive with the world is called Lokakasa (world-space) and that which is beyond is Alokakasa (non-world space) which is infinite, pure space. Kala or Time from the ordinary point of view is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications produced in substances, while real Time is eternal and is the basis of change

All these six, Soul, Matter, Dharma, Adharma, Space and Time are called Dravyas. The term Dravya denotes that which has a permanent substantiality which manifests through change of appearing and disappearing, Utpada (appearance), Vyaya (disappearance) and Dhrouya (permanency). Excepting Time the other five substances are called astikayas as they have extension or Bahupradesha. But Time has no such extension since it is unilateral. The universe is constituted by the six Dravyas which are uncreated and are existing from eternity.

Soul.

Jiva or Atma or Soul is the central theme in the Jaina System. There are infinite souls in the Universe and they were existing in the past, are existing now, and will continue to exist in the future. They were

not created at any time. All the souls are equal as regards their intrinic nature. Every Jiva is potentially divine but its divinity is obscured and obstructed because of its association with karmas. When the Karmas are removed, the soul will shine in all its glory and attain Godhood. The following characteristics of Jiva are to be noted. It has life, consciousness upayoga (perception and knowledge), is potent, performs actions, is affected by their results, is conditioned by its own body, is incorporeal and is ordinarily found with karma.

1. Jiva lives with four pranas Indriya (5 senses) Bala (3 forces of body, speech and mind), Ayuh (duration of life) and Uchvasa (respiration).

2. It has consciousness i. e. the ordinary finite consciousness which is associated with will and emotion viz. acting and enjoynig.

3. Upayoga is the manifestation of chetana in the act of understanding. Jnana and Darshana (knowledge and perception) are the two kinds of Upayoga.

4. It has the capacity to assume different states of existences in the mundane world. Every Jiva is the architect of his own life.

5. It is the doer of *its* own karmas.

6. It is the enjoyer of the fruits of *its* own karmas.

7. It is of the same *size* as the body it occupies.

8. It is incorporeal being spiritual by nature.

9. During his mundane existence he is always associated with karmas.

Samsari Jivas (mundane souls) are of two kinds, Sthavara (fixed) and Trasa (moving). Jivas living in earth, water, air, fire and plants have the sense of touch only. Worms, oysters, conches etc., have two senses, touch and taste. Ants, bugs, lice etc., have three senses, touch, taste and smell. Flies, bees, mosquitoes possess four senses, touch, taste, smell and sight. Men, birds, animals possess five senses viz. touch, taste, smell, sight and hearing. But men have well developed consciousness and hence they are called five sensed beings with mind. The Jaina conception that Jivas are potentially divine and are found in different states of existence is echoed in the following lines of the Sufi Mystic.

"God sleeps in the minerals
Dreams in the vegetables
Wakes to consciousness in animals
To self consciousness in man
And to God consciousness in Man made perfect."

Karmas

The Jaina conception of karmas is a very important and significant contribution to Metaphysics. The state of attachment and eversion is called Bhava Karma, while the karmic matter attracted towards the soul by virtue of such state is called Dravya Karmas. The Jainas believe that there are very subtle particles of matter called Karmic varganas in the world-space which bind the soul whenever it does a deed due to passions of Anger, Pride, Deceipt and Greed. These Karmic particles bind one's soul whether one actually does the deed, induces others to do the deed or approves of the deed done by others.

These Karmas are of eight kinds—

1. Jnanavaraniya which obscures the knowledge.

2. Darshanavaraniya which obscures the perception.

3. Mohaniya infatuates the soul and interferes with its self-realisation and self-absorption.

4, Antaraya throws obstacles to the performances of deeds such as giving charity, getting profit etc.

5. Vedaniya causes plearsure and pain.

6. Nama determines the body, the state of existence etc., in which the soul is to be born.

7. Ayuh prescribes the duration of life that a soul has to live in a paticular state of existence.

8. Gotra determines the birth of a soul in a higher or lower social status.

These karmas constitute the karmic body which is associated with the soul throughout its career of transmigration producing its appropriate results till it is finally cast away and destroyed when the soul attains perfection or Moksha.

God and Moksha

When the soul is free from all karmas it becomes pure and attains full divinity or Godhood. He becomes Paramatma devoid of all blemishes and free from birth and death. He has infinite knowledge, infinite perception, infinite power and infinite bliss. He can not be perceived by the senses and He is said to reside at the summit of the Universe. This dogmatical assertion is strengthened by the way in which the people talk of God They always refer to Him as, "One who is above" pointing to the sky. He has nothing to do with the world and He is only an Ideal for the other jivas to aspire to He is also called by the name of Siddha, one who has accomplished Attainment of the soul's perfection is the attainment of Moksha. This is the conception of God or Paramatma according to Jainism. Though Jainism and Shankara agree in maintaining the ultimate identity of Jivatma and Paramatma, yet the Jaina ideal of Parmatma with infinite qualities will be

found to differ from Shankara's ideal of Nirguna Brahman. But Ramanuja is one with the Jaina system in his conception of God with infinite qualities. There is no coming back of the Paramatma (Liberated Soul) to the mundane world again because a Perfect Being cannot become imperfect and hence the theory of Avatar according to which God is said to be born in flesh and blood is not accepted by the Jainas. Existence in Moksha or Nirvana has a beginining but no end, whereas the mundane existence of the imperfect soul has no beginning but can have an end.

Moksha Marga : The Way to Liberation

The way to Moksha is said to consist of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct. Right Faith is the undoubted faith in the nature of the seven Tattvas which are 1, Soul, 2. Non-soul, 3. Asrava (the way by which karmas flow into the soul), 4. Bandha (bondage of the soul with karmas), 5. Samvara (stopping of the inflow of the karmas), 6. Nirjara (the destruction of karmas) and 7. Moksha (freedom from all karmas). Right knowledge is the correct understanding of the nature of these Tattvas and Right Conduct is defined as living according to the rules of conduct laid down in the sacred books. The rules of conduct are of two kinds, (1) those prescirbed for the laymen and (2) those prescribed for the ascetics.

Jaina Logic

The Jaina Darshana is preeminently a system based on Logic. No statement, from whatever source it might come, will be accepted by a seeker after Truth unless it is tested on the touch-stone of Logic. The author of this book examines Jaina Logic under the following heads, Lakshana, Pramana, Naya, Saptabhangi, and Nikshepa.

In between the sections dealing on Saptabhangi and Nikshepa, he has introduced two sections on Ahimsa and on Caste, evidently to show that, as Saptabhangi emphasises the equality of all dharmas, Ahimsa emphasises the equality of all Jivas and Caste emphasises the equality of all castes and the brotherhood of all mankind.

I. Lakshana is defined as the differentiating characteristic of a substance.

II. Pramana is Proof or authority. It is of two kinds, Pratyaksha Pramana (direct apprehension of reality) and Paroksha Pramana (indirect apprehension of reality). The five kinds of knowledge, Mati, Sruta, Avadhi, Manah-paryaya and Kevala are said to be Pramanas. Of these Mati Jnana (knowledge obtained through sense perception and memory) and Sruta Jnana (knowledge obtained through books, signs, pictures etc.) form Paroksha Pramana. Avadhi Jnana

(clairvoyant knowledge of things and events in distant places and in distant times, either past or future), Manah-Paryaya (telepathic knowledge which enables one to read the minds of others) and Kevala Jnana (Omniscient knowledge) form Pratyaksha Pramana.

III. Naya is a means of understandig reality from a particular point of view. There are seven different Nayas:—

1. Naigama-Naya. Any part of a series of qualities or actions is taken to represent the whole. A man is seen packing things and when asked, "What are you doing ?", he replies, "I am going to Delhi". He is not actually going then but it is the purpose for which he is packing the things.

2. Samgraha-Naya is the class view. The name *rose* refers to the whole class of flowers known by that name.

3. Vyavahara-Naya is to study things under the several species constituting a genus. e. g. studying the six dravyas separately.

4. Rijusutra-Naya is to study the nature of a thing at the present mathematical moment e g. "It is very cold now."

5. Shabda-Naya refers to the use of words having different meanings due to differences in gender number,

etc., used to indicate one and the same object e. g. the words, dara (masculine), bharya (feminine) and kalatra (neuter) having different meanings due to differences in gender refer to wife.

6. Samabhirudh-Naya refers to synonyms which though interpreted may refer to the same identical thing. It is the differentiation of terms according to their roots e. g. the terms 'Indra', 'Shakra' and 'Purandara' imply respectively 'the prosperous' 'the powerful' and 'the destroyer of the cities of enemies' but refer to one and the same person.

7. Evambhuta-Naya refers to a particular action or capacity of a thing, at the time of speaking e.g. the term 'gau' (cow) means an animal in motion when the cow is actually going at that time.

Of these seven Nayas, the first four are called Artha Nayas as they deal with objects of knowledge and the remaining three are called Shabda Nayas in as much as they are concerned with the terms and their meanings. According to another classification the first three come under Dravya Naya (the substantive aspect) and the other four come under Paryaya Naya (the aspect of change or modification).

IV. Syadvada or Saptabhangi (seven modes of predication) is the crown of Jaina Logic. The Jainas understood the complex nature of reality The truth

of the reality cannot be understood unless it is studied in various aspects. Every object can be spoken of both in the affirmative and the nagative. How can we make two contradictory statements both true of an object ? The answer is the nature of the object is such. As a thing has several assertions and relations several predications are necessary. Is this idol made of marble or white clay ? If it is the one, it is not the other. Was Alexander a Greek or a Roman ? He was a Greek and not a Raman. These statements exhibit the possibility of predicating affirmation and *negation of the same thing. Is and is not* can significantly refer to the same object. But the point of view is different in each case. When a subject has two predicates, no one predicate alone can monopolise the subject to itself. The aspect left out by this predicate can very well be expressed by the other predicate; No predicate can be absolutely true excluding other predications about a particular subject; hence the necessity for qualified assertions about any object. These qualified or conditional assertions are primarily two, affirmation and negation.

1. In some respects X is.
2. In some respects X is not.

As these two aspects are found inherent in the same thing, we can say—

3. In some respects X is and in some other respects X is not.

In this proposition we are speaking of a thing in its two aspects which are inherent in and expressive of the thing. As there is no predicate which can express these two aspects conjointly, we are unable to describe the thing. This fact is expressed in the fourth mode of predication—

4. In some respects X is indescribable.

We may qualify this proposition by each of the first three predicates. Then we will have the last three modes of predication which are—

5. In some respects X is, though indescribable.
6. In some respects X is not, though indescribable.
7. In some respects X is and in some other respects X is not though indescribable.

In Sanskrit these seven modes of predication are called—

1. Syadasti
2. Syannasti
3. Syadastinasti Cha
4. Syadavaktavya
5. Syadasti avaktavya
6. Syannasti avaktavya
7 Syadastinasti avaktavya

These seven modes of predication are usually illustrated with reference to some object such as a Jar or *Ghata*. Whether it should have an affirmative predicate or negative one depends respectively on two groups of four aspects:-Svarupa (its own form), Svadravya (its own matter), Svakshetra (its own place) and Svakala (its own time), leading to affirmation and Pararupa (alien form), Paradravya (alien matter), Parakshetra (alien place) and Parakala (alien time) bringing in negation to the jar.

1. Now what is its own form, Svarupa? The word jar invariably implies certain definite attributes of a particular object designated by the term. These essential attributes connoted by the term jar will be its Svarupa. The attributes of any other object implied by any other term will be its Pararupa, alien to the jar. If existence is predicated of the Jar both from its own form as well as from that of an alien thing like cloth (pata) then the Jar will lose its distinctive character and become one with the cloth. If on the other hand non-existence is predicated from its own form as from alien nature then there will be no Jar at all. Neither of these results stands to reason.

2. What is its own matter, Svadravya? Clay is its own matter and gold is alien matter. The Jar is made

of clay and it is not made of gold.

3. What is its own place or Svakshetra ? The ground where the Jar is found is its own place Svakshetra and every other place is its Parakshetra.

4. What is its own time or Svakala ? The Svakala of the Jar is the duration of the time in which it exists intact. Its past when it was a mass of clay and its future when it will be a heap of broken shells will be its Parakala.

Thus a thing is affirmed in its four-fold self-relation, form, matter, place and time and is denied in its four-fold alien relation.

Now the Svarupa etc.,are determined with reference to the four-fold other relation of Pararupa etc , The self-relation apart from the other relation has no meaning The essential nature of a thing not only implies its Svarupa but differentiates it from Pararupa. In experience we not only perceive a thing but perceive it as distinct from other things. A Jar is seen not merely as a Jar but as a thing distinct from a cloth lying by its side. Without this distinction there can be no perception of the Jar at all. The very process of self-assertion implies differentiation from non-self. *Asti* implies self-assertion. *Nasti* implies alien exclusion. A thing not only asserts its own individuality, but also discards anything alien

to it. It is this element of discarding that everything must have in order to be real that entitles it to have the negative predicate. Instead of leading to a confusion this element of differentiation is the only basis for self-assertion of a thing. *Asti* and *Nasti*, assertion and exclusion, are inalienably present in the same thing. Wherever there is *Asti*, there is *Nasti* and wherever there is *Nasti* there is *Asti* also.

The primary modes of predication are three, Syadasti, Syannasti and Syadavaktavya The other four are obtained by combining these three.

Now according to the Samkhya philosphy everything is real and therefore exists. According to Buddhism everything is momentary and unreal. Both these views are rejected by the Jainas as extremes. The former is true according to the principle of Dravyarthika Naya whilet he latter is true according to Paryayarthika Naya. Hence each is true in its own way and is not true absolutely. Again reality is indescribable according to the Vedantins who emphasise the *anirvachaniya* aspect of reality Even this is only partially true, for otherwise even this predication, that reality is indescribable will be impossible.

The same seven modes of predication may be obtained in the case of the following pairs of attributes, eternal and changing, one and many, universal and particular etc. These pairs of opposites can very well

be predicated of reality and these may yield the other derivative modes of predication. Thus practically every attribute by being affirmed and denied according to different aspects may bring about seven fundamental propositions true of the real subject.

V. Nikshepa is the consideration of a thing in four aspects, Nama, Sthapana, Dravya and Bhava.

Nama Nikshepa—Giving a name to a thing which does not possess the qualities connoted by the name e. g. to call a person Bhimasena even though he may be very weak in body and cowardly at heart.

Sthapana Nikshepe—Representing a thing by an image, picture or symbol.

Dravya Nikshepa—Attributing a name to an object which does not possess the qualities connoted by the name now, but which possessed them in the past or might possess them in the future. e. g. to call a retired Commander as Commander or to call the Crown prince as King.

Bhava Nikshepa.—Giving a thing a name connoting the attributes possessed by the object at present e. g. soldier considered as such when he is actually fighting.

Jainism and the other Indian Darshanas.

According to Jainism Jiva is established as a real entity. But the Charvakas do not accept this as they recognise no proof except Pratyaksha which is

based on the senses. In Nyaya Philosophy the identity of a quality and the possessor of that quality is never recognised, but in the Jaina system Jnana and Darshana are not only the qualities of Jiva, but are identical with it The Jaina view that Jiva is formless is contrary to the views held by Kumarila Bhatta and also of Charvaka who does not recognise anything that cannot be perceived by the senses. According to the Samkhya philosophy, the Purusha (corresponding to the Jiva of the Jainas) is always udasina inactive and is only a passive spectator but in the Jaina system the Jiva is an active agent. The Samkhya system which is Nirishvara (Godless) is similar to Jainism & Buddhism in their opposition to the Vedic sacrifices. The Jaina view that Jiva is Bhokta (enjoyer) refutes the doctrine of the Buddhist philosophy that an agent does never enjoy the fruits of Karmas. The doctrine that the Jiva is co-extensive with the body it occupies, refutes the views of the Nyaya, Mimamsa and Samkhya systems. The Jaina view that the Jiva is in Samsara refutes Sadashiv, that it is Siddha refutes Bhatta and Charvaka and that it has an upward motion refutes the view of all other philosophers Samsara for the Vedantin is the manifestation of a single self Brahman and Moksha is the merging of the self in the Absolute and thus losing its individuality. For the Jainas infinite number of Jivas, each having its own paryayas, constitute the Samsara. The Jaina conception of Moksha

according to which the Jiva becomes pure and perfect and does not lose its *Satbhava*, substantial reality, is contrary to the Buddhist view of Nirvana as the annihilation of the self. The atomic structure of the universe is accepted not only by the Jainas but also by the Nyaya and the Vaisheshika schools.

Jainism and Western Thought.

Jainism is a dynamic realism and it will be interesting to note that some of its doctrines are similar to the views held by the philosophers in the west, especially those belonging to the Realistic School. The Jaina conception of Dravya, Guna and Paryaya (substance, qualities and modifications) is approximately similar to Spinoza's view of substance, attributes and modes Spinoza uses the term "attribute" with a technical meaning but in Jaina metaphysics it means qualities. Hegel had a conception of reality similar to the Jaina conception of Dravya, Satta and Dravya are one and the same as Hegel maintained. Thing-in-itself and experience are not absolutely distinct Dravyas refer to facts of experience and Satta refers to existence or reality. The French philosopher Bergson also recognised substance as a permanent thing existing through change. Darshana and Jnana (perception and knowledge) may be said to be analogous to Kant's conception of sensibility and understanding. Space and Time are real entities according to Jainism. Time helps to produce changes in substances.. Bergson

regards Time as the instrument of creative evolution. The European mathematicians Cantor, Peano and Frege have accepted the reality of Space and Time. The English Philosopher and Realist Bertrand Russell is also of the opinion that Time is a reality and not a form of experience. The Jainas say that Time is urdhva-pra chaya, unilateral and in the language of mathematical philosophy Time is monc-dimentional. To sum up the modern realists admit the doctrines that Time is real and is made up of instants or moments, Space is real and is made up of points and the physical world is real and is made up of atoms. Again, Hegel's assertion that affirmation and negation are identical, is similar to the predications of *Asti* and *Nasti* Saptabhangi.

Jainism and Modern Science.

If a student of science were to read the Jaina metaphysics he would be surprised to note that several of the modern scientific notions and discoveries were already khown to the Jaina philosophers who lived centuries before the Christian era. The eternity of the universe, the indestructibilty of matter, the conception of the ultimate atom and the realities of Space and Time are all facts recognised by modern science. The Jaina idea of sukshma-ekendriya Jivas, subtle-one-sensed beings corresponds to the scientific view of microscopic organisms. The analysis of sense qualities is as minute as that of modern psychology and the division

of cutaneous sensation into eight varieties is in keeping with modern scientific achievement. That plants live, take and assimilate food, breathe and are amenable to the sense of touch are now proved and scientifically established by the great Indian scientist Dr. Bose. Sound is not a product of Akasa but is produced only when molecules strike against one another. This view is held by the modern science also. The function of Adharma Dravya corresponds to Newton's theory of gravitation and Newton's distinction between relative and absolute time is also similar to the Jaina view. Like the Jainas the European Mathematicians also accept the reality of Time and Space.

Jainism and Ahimsa

Ahimsa is the corner stone of Jaina Ethics. Ahimsa is the negation of Himsa. What is Himsa ? Srimad Umaswami says प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा Hurting any of the vitalities of a living being through the passions of anger, pride, deceipt and greed is Himsa or injury When we harbour an evil thought against any living being, we first commit himsa to ourselves. When we speak a harsh word or do a cruel deed we do injury to others and to ourselves also. The greatest help that we can easily do to other lives is not to hurt them or kill them, since no living being desires pain or death. All the living beings are intrinsically equal and are sacred in as much as every one of them however minute it might be is potentially divine. In this con-

nection an incident in the life of Gibbon, the greatest historian of "The Rise and Fall of the Roman Empire" is worth noting here. One of his friends took him one day to see St. Paul's Cathedral. The friend showed Gibbon every portion of the building, its beauty and grandeur Gibbon was greatly pleased to see the wonderful architecture. While coming down from the building they both sat for a while on a step to take rest. The friend asked Gibbon, "How do you like this temple of God ? Is it not magnificent ?". The great historian replied, "Magnificent indeed but in no way more magnificent than this temple of God (pointing to an ant that was crawling on the step near their feet) in which He lives, breathes and moves". All the great men of the world and all the great religions uphold the divinity of Soul. When this divinity is developed in a soul it gains a mysterious spiritual power which makes the surroundings calm and peaceful. Even wild animals forget their cruel nature and lie down before him as tame animals. The lives of Saint Francis of Assisi and of Abdulla Hala of Bagdad give us very enteresting information as to how animals and birds, both wild as well as mild, responded to their calls and obeyed them. The saints addressed the animals and birds as "Brothers and Sisters" and treated them with love.

Man has no right to cut short the life of a creature and thus retard its spiritual progress. Every soul is born

according to its own karmas and it must be allowed to work out its own salvation. If possible we can help other living beings but in no way hinder them. Man is under the impression that he is the lord of the creation and hence does not hesitate to destroy life indiscriminately. Himsa is generally committed for the following purposes : 1. For the sake of food, 2. For sport or fun. 3, For fashion, 4. For propitiating deities.

1. Killing for the sake of food : The structure of the body of man, his teeth and his digestive organs clearly show that man is a frugivorous animal and not a carnivorous one. Even from the point of view of health, vigour, strength and power of endurance the vegetarian diet is considered to be far superior to meat diet. So killing for the sake of food is unnecessary and unwarranted.

2. Killing for sport or fun : Some people take delight in shooting not only wild animals but also harmless and innocent animals and birds. If the hunters imagine themselves to be in the place of the hunted ones and reflect seriously on what they are doing they will come to know the miserable condition of the innocent victims. There are several instances of people who, on seeing the agony of the animals they had shot had to shed tears and swear not to hurt any more any living being nor to taste flesh diet. The lives of the Duchess of Hamilton of England and of Thoreau of America may be read for further elucidation on the point.

3. Killing for the sake of fashion: Nowadays it has become a common thing to see in almost every town people using purses made of cat's skin, shoes and belts made of cobra skins, fountain pen holders made of lizard skins and ladies adorning themselves with feathers and seal-skins. Is this really a mark of civilisation ? The aboriginal tribes living in jungles also take delight in wearing skins and feathers. Why we call them as barbarians and ourselves as civilised people.

4. Killing in order to propitiate deities: There is a belief among certain people that some gods and goddesses are fond of sacrifices of animals such as goats, buffaloes, pigs, fowls etc. This belief is due to time-honoured superstition and fear. This kind of sacrifice is generally offered by low class people. They are tempted to offer the sacrifice in the hope that no calamity might occur in the future, that a thanks-offering should be given in return for getting a son or some fortune, and that any of their near and dear relations suffering from epidemics like cholera, small-pox etc. may be cured. Fortune or misfortune, children or no children, calamity or no calamity are entirely due to one's own karmas. Diseases are entirely due to unhealthy surroundings, unclean habits, careless and unhygienic way of living of the people. There is no meaning in attributing these to gods and goddesses and kill innocent and helpless animals and birds.

We also commit himsa 1. intentionally, 2 in doing

our household duties, 3. in carrying on our profession and 4 in fighting our enemies. The layman or the house holder is prohibited from doing any 'Himsa' with a deliberate intention. The other three kinds of 'Himsa' must be as less as possible. The ascetics should abstain from all kinds of Himsa.

It is said that the Jainas have carried the doctrine of Ahimsa to its logical conclusion and hence it is not possible to practise it. This is only a mis-conception. Nothing is difficult for a man if he has only the will to do it. Mahatma Gandhi, the greatest personality of this age is the most prominent proof of the possibility of practising Ahimsa as taught by Jainism and that too with wonderful success.

In order to make the practice of Ahimsa easy the Jaina Scriptures enjoin that the follower of Ahimsa should hove control of speech, control of mind, carefulness in walking, care in lifting up and laying down things and should thoroughly examine his food and drink before taking them. Also he should avoid tying up, beating, mutilating or overloading animals or human beings and withholding food or drink from them due to anger or carelessness. Buddhism also preaches Ahimsa but its followers have taken to flesh eating for some reason or other. Unlike the Buddhists, the Jainas hold an uncompromising attitude. No Jaina allowed to take flesh or commit Himsa for any reason.

Some people argue that the kill ng cf animals and birds is necessary in order to check their increase in number so that they may not be a menace to us. This is only a fanciful excuse. We need not worry ourselves regarding the increase of animals and birds. There is what is called the Balance of Nature working always. Every man is expected to live as harmlessly as possible helping those around him according to his means and power, and be a friend of all and enemy of none.

Jainism and the Caste System

The caste system based on birth is peculiar to India. It is a positive hindrance to the progrese of the human society. Hinduism recognises four castes based on birth namely Brahmin (priest), Kshatriya (warrior), Viashya (merchant) and Shudra (servant). Jainism does not recognise any of these castes as based on birth. In Jaina books these words are used only to show the professions which these people follow. All men are equal by birth They differ only as regards the avocations they follow. A chandala or Harijan, if he is a follower of Ahimsa and has right faith in the doctrines of Jainism is far superior to a deva who has no faith. Every person is at liberty to follow any profession he likes or is fit to take up provided it is free from Himsa. It is no exaggeration to say that Mahatma Gandhi has given a death-blow to the caste system in India by rousing up the consciousness of the depressed people, by appealing to the enlightened members of the society

and by actually living in the midst of Harijans and working for their welfare and amelioration. According to Jainism a Samyakdrishti or right believer should be free from the pride of caste.

Is Jainism a Nastika System ?

Jainism, Buddhism and Charvaka System are said to be non-Vedic systems, as they do not accept the authority of the Vedas. For that reason they are also dubbed as nastika schools of thought. This is only a misnomer. According to an accepted definition, a nastika system is one which does not believe in Atma, Moksha and Moksha-Marga. If this criterion is adopted then the Charvaka alone will come under this classification. One who studies Jainism and the other

or the possibility of creation. The strongest and the most logical condemnation of the creatian theory is found in the Mimamsa system which is perhaps the most orthodox of the Hindu Darshanas in as much as it emphasises the authority of the Vedas to be supreme. The Vedas according to them is eternal and *apaurusheya*. The only Vedic Darshanas which prima *facie* appear to recognise the doctrine of creation are the Nyaya and the Vaisheshika schools. Even according to them the ultimate principles of souls and atoms are considered to be eternal and uncreated. The work of the Creator is merely to build up the bodies for the jivas or souls according to their merits or demerits. The Jaina view does not amount to anything more than what is already contained in the Vedic Darshanas. If Jaina Darshana is condemned as nastika for the simple reason of rejecting the doctrine of creation, then the title would be applicable to every Hindu Vedic Darshana with equal Justification.

Jainism as a solution to some modern problems.

Social inequality and economic distress are the two great problems that agitate the minds of our leaders now. Social inequality based on birth or financial status and economic distress due to insufficiency of food, clothing, shelter; and funds to meet other domestic functions are the reason for the mass unrest and rebellion Can the principles of Jainism offer any solu-

tion to solve the difficulties ? Yes. It has enjoined its followers to practise the following twelve vratas or vows

1. Ahimsa–Abstinence from injury.
2. Satya–Truthfulness.
3. Asteya–Abstinence from stealing.
4. Brahmacharya–Chastity.
5. Parigraha parimana–Limiting the possession.
6. Digvrata–Taking a life-long vow to limit worldly activity upto certain boundaries in all the ten directions.
7. Desh vrata–Taking a vow to limit worldly activity for a shorter period of time.
8. Anarthadanda vrata–Taking a vow not to commit sins like speaking ill of others, preaching of sinful deeds, giving objects of offence reading or hearing bad books.
9. Samayika–Contemplating on the self at fixed hours every day.
10. Proshadhopavasa–Fasting on four days in a month, on the 8th and the 14th of the bright half and the dark half of every month.
11. Bhoga Upabhoga-parimana—Limiting the use of things which can be enjoyed only once like food, drink etc , and of things which can be enjoyed again and again such as dress, cushion, umbrella etc.
12. Atithi-samvibhaga.—Taking a vow to feed an ascetic, [illegible] house-holder or an afflicted,

poor and hungry person before taking his food.

Of these twelve vows we shall study the numbers 1,5 6, and 7 which are relevant for our purpose.

Ahimsa : This is based on the fact that all lives are sacred and all have a right to live and march on the path of evolution. All men are equal to whichever country, race, colour or creed they might belong There can be no social inequality and no inferiority or superiority complex among them. Through Ahimsa, Mahatma Gandhi has not only gained political freedom for the country but he has gone a great way to get the social inequality removed.

Parigraha-parimana : Jainism teaches that every man should have a limit for his possessions. As a necessary corollary it follows that he should fix a limit for the acquisition of his wealth. After reaching that limit he should retire and give room for others to earn. For example if a lawyer retires from his proffession after acquiring the wealth which he has fixed for himself, he will be creating chances to his juniors to take his place and earn. Similarly the business people also should do. If people understand the significance of this vow and follow it closely, the unequal distribution of wealth can be gradually removed. According to the Jaina Ethics it is said that too much of worldly activity and too much of attachment for worldly things will lead a soul to hell.

Digvrata and Deshavrata: Limiting one's activities in all directions for the whole life time and limiting one's activities within certain boundaries for a limited time

These are not merely religious vows. They are of much economical importance. A person who practises these vows has to depend upon things of his own place or village or limited area. He cannot send for things from outside, nor send out things from his place. He has to depend upon his own people. In a village if the majority of the people begin to practise this vow, the village, out of necessity, has to become a self-supporting unit and the people would feel self-contented and self-sufficient. The advice of Mahatma Gandhi to boycot foreign goods was perhaps based upon this vow, fully conversant of Jaina vows, as he was.

This is not a difficult vow to practise. Even to day we find in South India some villages where the Jainas depend entirely on their own village products and manufactured things.

It is further enjoined that the gift of food, of medicines, of learning, and of protection should be given to the deserving and to the needy. If these vows are strictly followed on a wide scale without any transgressions, social inequality and economic distress will soon vanish and all people will have enough food, clothing, shelter and comfort.

जैनदर्शनसार:

प्रथमोऽध्याय:

॥ मङ्गलम् ॥

श्रीमंतं सन्मति सिद्धं नत्वा सद्गतिदायकम् ।
जैनदर्शनसाराख्यं निबंधमभिदध्महे ॥

ग्रन्थ-संगति:

आत्मन: परमहितप्रतिपादन जैनदर्शनस्य प्रयोजन । तस्य परमहितं तु मोक्ष: । स एव परमपुरुषार्थ: । मोक्षस्तु आत्यंतिकाऽव्याबाधसुखस्वरूप: । स तु न केवलाज्ज्ञानान्नापि ज्ञाननिरपेक्षाच्चारित्रान्नापि एतद्द्वयानपेक्षाद् दर्शनादपि तु समुदितैरेभि:

हिन्दी अनुवाद

जो श्री लक्ष्मी अनन्त चतुष्टय (ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य) रूप अन्तरंग लक्ष्मी तथा समवसरणादि रूप वाह्य लक्ष्मी से संयुक्त हैं, जो सिद्धावस्था या स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हो चुके हैं। जो श्रेष्ठ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान तथा सद्गति अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाले है । ऐसे महावीर भगवान को नमस्कार करके जैनदर्शनसार नामक निबन्ध को कहता हूं ।

जैन दर्शन का प्रयोजन आत्मा के परमहित का प्रतिपादन करना है । आत्मा का परमहित मोक्ष-निर्वाण है । वह ही परम पुरुषार्थ है । मोक्ष परमोत्कृष्ट निराबाध सुखस्वरूप है । वह मोक्ष न तो केवलज्ञान से, न ज्ञान रहित चारित्र से और न ज्ञान व चारित्र-रहित दर्शन से भी प्राप्त होता है, वह तो सम्यक्त्व विशिष्ट इन तीनों के समुदाय से प्राप्त होता है । तत्त्वार्थ-

त्रिभिः सम्यक्त्वविशिष्टैः प्राप्यते । तथाचोक्त तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः १।१"

*सम्यग्दर्शनं हि आत्मेतरविवेकरूपं । आत्मेतरविवेकस्तु तत्त्वार्थश्रद्धानात् समुपलभ्यते । तत्त्वार्थश्च जीवाजीवास्रव बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षाख्याः सप्त । जीवश्चेतनालक्षणोऽजीवस्तद्विपरीतः । पुण्यपापागमद्वाररूप आस्रवः । आत्मकर्मणोरन्योन्य-प्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः । आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः । कर्मैक-देशसंक्षयात्मिका निर्जरा । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षः ।

जीवतत्त्वविवेचनम्

जीवति प्राणिति चतुर्भिरिंद्रियबलायुःश्वासोच्छ्वासाख्यैः प्राणैर्व्यवहारेण, निश्चयनयेन तु स्वचेतनात्मकस्वभावेन, स

धिगम मोक्षशास्त्र नामक ग्रंथ में कहा गया है कि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का उपाय है।

सम्यग्दर्शन स्व और पर के भेदज्ञान-स्वरूप है और वह आत्मेतर—विवेक तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्राप्त होता है। तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, आश्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव चेतना लक्षण वाला है, अजीव इससे विपरीत अचेतन स्वरूप है। आस्रव-पुण्य और पाप के आने का द्वार स्वरूप है। वंध–आत्मा और कर्म के परस्पर प्रदेशों में प्रवेशात्मक रूप है। संवर का लक्षण कर्मों के आगमन को रोक देना है। कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। समस्त कर्मों से छूट जाना मोक्ष का लक्षण है।

जीव तत्त्व का वर्णन

१ इन्द्रिय, २. बल, ३ आयु तथा ४ श्वासोच्छ्वास-इन चार प्राणों द्वारा जो जीता है, प्राण धारण करता है वह जीव

जीवः, स एवात्मशब्देनाप्युच्यते। जीवोऽयमुपयोगमयोऽमूर्तिः, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाणः, भोक्ता, ऊर्ध्वगतिस्वभावश्च। तस्य द्वौ भेदौ, संसारस्थो मुक्तश्चेति। तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहे:—

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

जीवसिद्धिः चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्त्त जीवत्वं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्म्मकर्तृत्वस्थापनं

है। यह व्यवहार दृष्टि से जीवका लक्षण है। निश्चय नय से स्वचेतनात्मक स्वभाव से जो जीता है वह जीव है—वही आत्मा शब्द से भी कहा जाता है। यह जीव उपयोगमयी, अमूर्त्तिक, कर्त्ता, अपने शरीर के परिमाण वाला, भोक्ता और ऊर्ध्व-गमन स्वभाव वाला है। उस जीव के दो भेद हैं—एक संसारी और दूसरा मुक्त। यही द्रव्य संग्रह नामक ग्रंथ में कहा है—

जीव जीने वाला है, उपयोगमय है, अमूर्त्तिक है, कर्त्ता है-अपने शरीर के परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है, स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है। इन नो अधिकारों द्वारा जीव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

यहा जीव इस पद के द्वारा चार्वाक मत का परिहार किया गया है; क्योकि चार्वाक जीव के अस्तित्व को नहीं मानता। ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षण पद से नैयायिक-वैशेषिक मत का परिहार किया गया है; क्योंकि वे उपयोग को जीव का

सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितित्वं नैयायिक–मीमांसक-सांख्यत्रयं प्रति, कर्म्मभोक्तृत्वसिद्धिः बौद्ध प्रति, संसारस्थत्वं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वं भट्ट-चार्वाकद्वयं प्रति, उर्द्ध्वगति–स्वभावकथनं माण्डलिक-ग्रन्थकारं प्रति इति मतार्थो ज्ञातव्य.।"

अधुनैतेषां जीवस्वभावानां प्रत्येकं संक्षेपतो वर्णनं क्रियते–

उपयोगमयत्व–उपयोगमयत्वं हि दर्शनज्ञानस्वभावात्मकत्वं। दर्शनज्ञानस्वभावातिरिक्तजीवलक्षणस्याभावात्।

स्वरूप नही मानते। भट्ट व चार्वाक जीव को मूर्त्तिक मानते हैं, उनके निराकरणार्थ अमूर्त्त विशेषण दिया गया है। सांख्य जीव को कर्मों का कर्त्ता नहीं मानता; अतः कर्त्ता पद से साख्य मत का परिहार किया गया है। जीव को सर्व व्यापक मानने वाले नैयायिक, मीमांसक और साख्यो के प्रति स्वदेह परिणाम, विशेषण दिया गया है। कर्म का कर्त्ता और कोई है तथा भोक्ता अन्य है—ऐसा मानने वाले बौद्ध के प्रति कर्म फल का भोक्ता यह विशेषण दिया गया है। सदाशिव मतवाले जीव को सदा-मुक्त मानते है–अतः ससारस्थ विशेषण से उस मान्यता का निराकरण किया गया है। भट्ट तथा चार्वाक जीव का मुक्त होना ही नही मानते है–उनके निराकरण के लिए सिद्ध पद दिया है। मांडलिक मतावलम्बी जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव नही मानते, उनके परिहार के लिए ऊर्ध्वगति विशेषण दिया है।

अब इन जीव के स्वभावो का प्रत्येक का सक्षेप से वर्णन करते है।

उपयोगमयो है—

उपयोगमये का अर्थ है–दर्शन–ज्ञान–स्वभावी होना। दर्शन ज्ञान स्वभाव के अलावा जीव के लक्षण का अभाव है। (उपयोग के दो भेद है–दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग)

ननु चात्मनः पृथिव्यादिचतुष्टयात्मकत्वाद् रूपाद्यात्मकत्व-मितिचेन्न अचेतनेभ्यश्चैतन्योत्पत्त्ययोगात् । न चात्मनि पृथिव्या-दिगुणधारणेरणद्रवोष्णतालक्षणोऽन्वयो दृश्यते । यदि भूत-चतुष्टयात्मकत्वमात्मनः स्वीक्रियेत तर्हि तद्दिनजातबालकस्य स्तनादावभिलाषाभावप्रसंगः स्यात् । अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने सति भवति, प्रत्यभिज्ञान च स्मरणे, स्मरणं चानुभवे भवतीति पूर्वानुभवः सिद्ध । मध्यदशायां तथैव व्याप्तेः । अन्यथा पूर्व-जन्मस्मृतिर्न स्यात् । मृताना रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनाच्च सनातन आत्मा सिद्धः । तथा चोक्तं —

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ।।

शंका—आत्मा के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों रूप होने से रूपादिक पना है—(उत्तर) ऐसा नही है क्योंकि अचेतन इन चारों से चेतन की उत्पति नही हो सकती। और न आत्मा में पृथ्वी का धारण, जल की द्रवता, वायु का प्रेरण और अग्नि की उष्णता गुण ही प्राप्त है।

यदि आत्मा को चार भूतात्मक स्वीकार कर लिया जाय तो उसी दिन उत्पन्न होने वाले बालक के स्तन पान की अभि-लापा के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अभिलाषा निश्चय से प्रत्यभिज्ञान के होने पर होती है। प्रत्यभिज्ञान स्मृति (पूर्व पदार्थ की याद) पूर्वक होता है। और स्मृति धारण रूप अनुभव के होने पर होती है। अत. पूर्वानुभव सिद्ध हो जाता है। जीवन के मध्य भाग में भी इसी तरह की अभिलापा आदि की व्याप्ति सिद्ध है। अन्यथा—पूर्व जन्म का स्मरण नही होगा। मरे हुए जीवों का राक्षस यक्ष आदि कुलों में उत्पन्न होना स्वयं के द्वारा कहते हुए देखा जाता है अतः आत्मा-

तथा च न तदानीमेव पृथिव्यादिचतुष्टयसंयोगादात्मन उत्पत्तिर्युक्तिपथप्रस्थायिनी। कर्मबंधापेक्षया व्यवहारनयमाश्रित्योपचारतस्तस्य मूर्तिमत्वस्वीकारे तु न काचन क्षतिः। तथा चोक्तं—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥

[वर्णा रसाः पंच, गंधौ द्वौ, स्पर्शा अष्टौ, निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्तिस्ततः व्यवहारात् मूर्तो बंधात्॥]

कर्तृत्व—व्यवहारनयादयमात्मा ज्ञानावरणादीनां पुद्गलकर्मणां घटपटादीनां च, अशुद्धनिश्चयनयाद् रागद्वेषादीनाम-

---

अनादि कालीन सिद्ध होता है। यह ही कहा है—

नव जात बालक के स्तन पान की तीव्र इच्छा से; व्यन्तरादिक के देखने से; पूर्वभव के स्मरण से तथा पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय के गुण धर्म स्वभाव का आत्मा मे नही पाए जाने से आत्मा स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा और नित्य सिद्ध होता है। इस तरह पृथिव्यादिक चतुष्टय के सयोग से आत्मा की उत्पत्ति का कथन युक्तियुक्त नही ठहरता है। कर्म बन्ध की अपेक्षा से व्यवहारनय का आश्रय लेकर उपचार से आत्मा को मूर्त्तिमान मान लेने मे तो किसी प्रकार की कोई हानि नही है। वही कहा है—

पाच वर्ण, पांच रस, दो गध, आठ स्पर्श निश्चय नय की अपेक्षा जीव में नही है—अत. वह अमूर्तिक है; किन्तु पौद्गलिक कर्मों से बधा होने के कारण व्यवहार से वह मूर्त्तिक है।

कर्तृत्व—(कर्त्तापना) व्यवहार नय की अपेक्षा से यह आत्मा ज्ञानावरणादिक आठ पुद्गल कर्मो का और घट वस्त्र

शुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयाच्च स्वकीयशुद्धभावानां कर्त्ता। आत्मनो यदि कर्तृत्वं नांगीक्रियेत तर्हि तस्य भोक्तृत्वमपि न स्यात्। न च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः कश्चन विरोधः, अन्यथा भोक्तुर्भुजिक्रियायाः कर्तृत्वं न स्यात्। न चान्यस्य कर्तृत्वमन्यस्य भोक्तृत्वमन्यथा कृतनाशऽकृताभ्यागमप्रसंगः स्यात्, ततः आत्मनः कर्तृत्वं तर्कसिद्धम्।

स्वदेहपरिमाणत्वं—यावदयं जीवः कर्मभिर्न विमुच्यते तावत् स्वकर्मविपाकवशात् संसार एव परिभ्रमति। कदाचिन्मनुष्यः, कदाचिद्देवः कदाचिन्नारकः, कदाचिच्च तिर्यक्समुत्पद्यते। हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्यैरशुभैस्तद्विरतिरूपैः शुभैश्च

आदि का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से रागद्वेष आदि अशुद्ध भावों का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि शुद्ध भावों का कर्त्ता है। आत्मा का यदि कर्त्तापना स्वीकार न किया जाय तो उसके भोक्तापना भी नहीं होगा। कर्त्तापने में और भोक्तापने मे कोई विरोध हो-ऐसी बात नही। नही तो भोक्ता के भुजिक्रिया (भोगने रूप क्रिया) का कर्त्तापना भी नही हो सकेगा। अन्य कर्त्ता हो और अन्य भोक्ता हो—ऐसा कभी नही बनता। यदि ऐसा हो जाय तो किए हुए का नाश और नही किये हुए के आगमन का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए आत्मा के कर्त्तापना तर्क से सिद्ध है।

स्वदेह परिमाणत्व—जब तक यह जीव कर्मों से छुटकारा नहीं पाता तब तक अपने कर्मों के फल से संसार में भ्रमण करता रहता है। कभी मनुष्य बनता है, कभी देव, कभी नारकी और कभी तिर्यञ्च बनता है। हिंसा, असत्य, चौरी, कुशील

भावैः पापं पुण्यं च समुपार्ज्यं शोभनाशोभनशरीर लभते। यादृशमणुमहद्वा शरीरं विन्दति तावत्प्रमाणः प्रदेशसंहार-विसर्पवत्वात् प्रदीपवत् संकोचविकासशाली भवति। पिपीलिकाशरीरस्थ एवात्मा यदा हस्तिशरीरमाप्नोति तदा तत्प्रमाणो भवति। तथा च नात्मा व्यापकः।

ननु आत्मा व्यापको द्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वात्, इत्यनुमानात्तस्य व्यापकत्वं सिद्धयति इति चेन्न, अत्र यदि रूपादिलक्षणं मूर्तत्वं तत्प्रतिषेधोऽमूर्तत्वं, तदा मनसा व्यभिचारः, अथासर्वगतद्रव्यपरिमाण मूर्तत्वं, तत्प्रतिषेधस्तथा चेत्, परं प्रति साध्य-

---

तथा परिग्रह नामक अशुभ भावों से तथा इनसे विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप शुभ भावों से पाप और पुण्य उत्पन्न करके सुन्दर और कुरूप शरीर धारण करता है। जिस प्रकार का छोटा या बडा शरीर मिलता है उसी प्रमाण आत्मा संकुचित और विस्तृत हो जाता है; क्योंकि आत्म-प्रदेशों में फैलने और सिकुडने की शक्ति है, दीपक की तरह। पिपीलिका (लट) के शरीर मे स्थित आत्मा हीं जब हाथी का शरीर प्राप्त करती है तव हाथी के प्रमाण हो जाती है। इस तरह आत्मा व्यापक नही है।

शंकाः—आत्मा व्यापक है, द्रव्य होकर अमूर्तिक होने से। इस अनुमान से आत्मा के व्यापकपना सिद्ध होता है, (उत्तर) यह ठीक नही है। यदि यहा मूर्तपने का लक्षण रूपादिमान माना जाय और उसका उलटा अमूर्त्तपना माना जाय तो मन से व्यभिचार नामक दोष आता है–क्योकि मन को द्रव्य मान करके भी अमूर्त माना है, परन्तु उसे व्यापक नही माना। यदि मूर्तपने का लक्षण असर्वगत द्रव्य परिमाणवाला और इससे विपरीत अमूर्त्त का लक्षण माना जाय तो हम जैनो के प्रति

समो हेतु.। यच्चापरमनुमानमात्मा व्यापकः अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यत्वात् । तदपि न समीचीनं । आत्मनः सर्वथा नित्यद्रव्यत्वाभावात् । नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, तस्य कथंचिन्नित्यानित्यात्मकत्व । द्रव्यापेक्षया हि तस्य नित्यत्वं पर्यायापेक्षया चानित्यत्वम् । जैनदृष्टौ सर्वेषां पदार्थानां परिणामिनित्यतास्वीकरणात् । अणुपरिमाणानधिकरणत्वमपि पर्युदासप्रसज्यपक्षाभ्यां चिन्त्यमान न सौस्थ्यमाभजतीति ज्ञातव्यम् ।

नाप्यात्मा वटकणिकामात्रं, कमनीयपदार्थसस्पर्शकाले प्रतिलोमकूपमाह्लादनाकारस्य सुखस्यानुभवात् । तस्य वटकणिकामात्रत्वस्वीकारे सर्वाङ्गीणरोमाञ्चादिकार्योदयायोगात् । आलात

यह हेतु साध्य सम हो जायगा । अर्थात् फिर व्यापकपने में और अमूर्तपने में कोई भेद नही रहता; अतः जैसे साध्य असिद्ध होता है वैसे ही हेतु भी असिद्ध हो जाता है। और दूसरा यह अनुमान कि आत्मा व्यापक है, अणु परिमाण अधिकरण वाला न होकर नित्य होने से, आकाश की तरह, वह भी ठीक नही है; आत्मा के सर्वथा नित्य द्रव्यपने का अभाव होने से। क्योंकि नित्य पदार्थ के क्रम और अक्रम से अर्थ-क्रिया होने का विरोध है। अतः आत्मा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। द्रव्य की अपेक्षा से ही आत्मा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। जैन दृष्टि में सब पदार्थों का स्थिर रहते हुए परिणमन स्वीकार किया गया है। अणु परिणाम अधिकरण वाला न होना यह हेतु भी पर्युदास और प्रसज्य पक्ष से विचार करने पर खरा नहीं उतरता—यह जानना चाहिए ।

यह आत्मा वटकणिका (वटबीज) मात्र भी नही है—सुन्दर पदार्थों के छूने के समय शरीर के प्रत्येक रोम में आल्हादिकारक सुख की अनुभूति होने से। आत्मा को वटकणिका

चक्रवदाशुवृत्या क्रमेणैव तत्सुखमिति नोपपत्तियुक्तं। परापरान्तःकरणसंबंधस्य तत्कारणस्य परिकल्पनायां व्यवधानप्रसंगात्। यदि परापरांतःकरणयोगो न स्वीक्रियेत तर्हि सुखस्य मानसप्रत्यक्षत्वं न स्यात्।

७.१ न च स्वदेहप्रमितिरात्मा इत्यत्रापि प्रमाणाभावात् सर्वत्र संशय इति वाच्यं। तत्साधकस्यानुमानस्य सद्भावात्। तथाहि देवदत्तात्मा तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते, तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलंभात्। यो यत्रैव यत्र स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते, स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च

मात्र स्वीकार करने पर सारे शरीर में रोमाञ्च आदि कार्य की उत्पति का अभाव हो जायगा। कुम्हार के चाक की तरह शीघ्र घूमने से क्रम से ही सुख होता है-यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सुख के कारणभूत अन्तःकरण के नये नये सम्बन्ध की कल्पना करने पर अन्तराल में सुख के विच्छेद का प्रसंग आता है। और यदि परापरांतःकरण योग स्वीकार न किया जाय तो सुख के मानस प्रत्यक्षता नही ठहरती है। अत. आत्मा वटकणिका मात्र है-यह मान्यता भी ठीक नही है।

आत्मा स्वदेह प्रमाण है-इस सम्बन्ध मे भी प्रमाण नहीं मिलता। अतः आत्मा के आकार के बारे में सब मान्यताएं संदेहपूर्ण हैं-ऐसा नही कहना चाहिए। आत्मा को स्वदेह प्रमाण सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण का अस्तित्व है। जैसे देवदत्त की आत्मा उसके शरीर में ही और उसके सर्व प्रदेशों में ही मौजूद है, क्योंकि उसके सारे शरीर मे एवं सारे प्रदेशों में ही अपने असाधारण गुणो-ज्ञान दर्शनादि के साथ प्राप्त होने से। जो जिस वस्तु में जहा अपने असाधारण गुणों के साथ मिलता है, वह उस वस्तु मे वहां वहां सब जगह ही

विद्यते। यथा देवदत्त गृह एव तत्र सर्वत्रैव चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुणः प्रदीपः तथा चायं तस्मात्तथेति। आत्मनोऽसाधारणगुणाश्च ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यते। ज्ञानं हि ज्ञेयबोधनात्मकं, दर्शनं निर्विकल्पक-सत्तालोचनात्मक, सुखमाह्लादनस्वरूपं, वीर्यं तु ज्ञानसुखादिधारणात्मकशक्तिस्वरूपम्।

तस्मादात्मा स्वशरीरप्रमाण एव युक्तिसमर्थितः। न चात्मेंद्रियमनोरूपः, द्रव्येंद्रियद्रव्यमनसोः पुद्गलात्मकत्वेन जडत्वात्। इंद्रियादिविनाशेपि आत्मनोऽवस्थानात्। भावेन्द्रिय- भावमनसोस्तु आत्मभिन्नत्वाभावात्।

रहता है। जैसे देवदत्त के घर मे ही अपने असाधारण प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त दीपक सब जगह ही प्राप्त होता है, इसी तरह देवदत्त की आत्मा है। इसलिए देवदत्त की आत्मा उसके पूरे शरीर मे व्याप्त हैं। आत्मा के असाधारण गुण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप हैं और वे आत्मा में ही सर्वाङ्ग रूप व्याप्त पाये जाते हैं। ज्ञेय के जानने रूप लक्षणवाला ज्ञान कहलाता है। विकल्प रहित द्रव्य के अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला दर्शन कहा जाता है। आकुलता रहित परम आनन्द सुख का लक्षण है और ज्ञान सुख वगैरह धारण करने स्वरूप शक्ति को वीर्य कहते हैं।

इसलिए आत्मा स्वदेह प्रमाण ही युक्तियो से सिद्ध होता है। और आत्मा इन्द्रिय और मन रूप नही है; क्योंकि द्रव्येन्द्रिय और द्रव्य मन के पुद्गल होने से अचेतनता है, तथा द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन के नाश हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है। भावेन्द्रिय और भाव मन तो आत्मा से भिन्न न होने से आत्मरूप ही हैं।

भोक्तृत्वं—यथाऽयमात्मा स्वकर्मणां स्वकीयभावानां च कर्त्ता तथैव तेषा फलभोक्ताऽपि। व्यवहारनयात् स पौद्गलिक-कर्मफलं प्रभुङ्क्ते निश्चयनयतस्तु आत्मनश्चेतनभावं। यद्यन्यः कर्त्ता स्यादन्यश्चभोक्ता स्यात् तदा स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं भवेत् प्रयत्नश्च सर्वोऽपि निष्फल· स्यात्।

ऊर्ध्वगतिस्वभावत्व—वस्तुतोऽयमात्मा ऊर्ध्वगतिस्वभावः कर्मबंधनपारतन्त्र्यात्तु यत्र गंतुं कर्म प्रेरयति तत्रैव गच्छति। यदा तु सर्वतो कर्मबंधनमुक्तो भवति तदा स्वभावतः ऊर्ध्वमेव व्रजति। कर्मबद्धस्तु जीव. स्वस्वकर्मानुसार विभिन्नां गतिं लभते।

भोक्ता है—

जिस प्रकार यह आत्मा अपने कर्म और अपने भावों का कर्त्ता है, उसी तरह उनके फल को भोगने वाला भी। व्यवहार नय से वह पुद्गल रूप कर्मों के फल सुख दुःख को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा के चैतन्य भाव से उत्पन्न परमामृत का भोक्ता है। यदि कर्म और कोई करे और उसका फल कोई दूसरा भोगे तो अपने द्वारा किया हुआ कर्म निष्फल होगा और उसके लिए किया गया सम्पूर्ण प्रयत्न भी व्यर्थ होगा।

स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है—

वास्तव में तो यह आत्मा ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है; लेकिन कर्म बन्धन की परतन्त्रता से कर्म जहां जाने को प्रेरित करता है वहां ही जाता है। जब यह आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जाता है तब स्वभाव से ऊपर ही जाता है। कर्मों से जकडा हुआ जीव तो अपने अपने कर्मानुसार विभिन्न गति को प्राप्त होता है।

इत्थं जीवत्वादिस्वभावैः समर्थित एष जीवो द्विविधः संसारस्थः सिद्धश्च। यो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैर्नानायोनिषु संसरति स संसारी। संसारीजीवः स्थावरत्रसभेदेन द्विविधः। तत्र पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। कृम्यादयोद्वींद्रिय-त्रींद्रिय-चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिया, त्रसाः। पंचेंद्रिया अपि समनस्काऽमनस्कभेदेन द्विप्रकाराः। जीवाना चतुर्दशजीवसमास-चतुर्दशमार्गणा-चतुर्दशगुणस्थान-विकल्पैरपि अनेकभेदा भवंति। ते च सर्वे परमागमादूह्याः। जीवस्याऽयं संसारित्वभेदोऽशुद्ध नयादेव। शुद्धनयात्तु सर्वे जीवाः शुद्धा एव।

सिद्धत्वं—जीवोऽयं गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्भावितात्मा वाह्याभ्यन्तरद्विविधेन तपसा समुपात्तशक्तिः श्रुत-

---

संसारी है—

इस प्रकार जीवत्व वगैरह स्वभावो से समर्थित यह जीव दो प्रकार का है-संसारी और सिद्ध। जो मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र से अनेक योनियों मे परिभ्रमण करता है वह संसारी है। संसारी जीव स्थावर और त्रस के भेद से दो प्रकार का है। उनमें पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय स्थावर है। लट वगैरह को लेकर दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस है। पंचेन्द्रिय भी सैनी असैनी दो प्रकार के हैं। जीवों के चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थान के भेदों से अनेक भेद होते हैं। उन सबको परमागम से जानना चाहिए। जीव का संसारी यह भेद अशुद्धनय से ही हैं। शुद्ध नय से तो सब जीव शुद्ध ही हैं।

सिद्ध है—

यह जीव गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र द्वारा आत्मा को साधता हुआ, बाह्य और अभ्यन्तर

ज्ञानाविचलपर्यायात्मकेन शुक्लध्यानाग्निना निर्दग्धकर्मेन्धनो यदा समुपात्तमनुष्यशरीर परित्यज्य चरमशरीरात् किंचिन्न्यून-परिमाणो लोकाग्रस्थाने सिद्धत्वं प्राप्नोति तदा तस्याष्टकर्म विनाशादष्टौगुणा प्रादुर्भवति-ज्ञानावरणक्षयादनंतज्ञानं. दर्शना-वरणक्षयादनंतदर्शनं, अन्तरायक्षयादनंतवीर्यं, वेदनीयक्षयादव्या बाधत्वमिंद्रियजनितसुखाभावो वा, मोहनीयक्षयात् परमं सम्यक्त्व सुखं वा। आयुः क्षयात् परमसौक्ष्म्यमुत्पत्तिमरणाहृतिर्वा। नामक्षयात् परमावगाहनममूर्त्तत्वं वा। गोत्रक्षयादगुरु-लघुत्वमुभयकुलाभावो वा।

अयं जीव एवात्मशब्देनाऽपि प्रोच्यत इति पूर्वमुक्तं। अध्या-त्मभाषया एष आत्मा त्रिविधोप्यस्ति वहिरात्मा, अंतरात्मा.

दो प्रकार के तप से शक्ति प्राप्त करके, श्रुतज्ञान की निश्चल पर्याय स्वरूप शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी इन्धन को भस्म करता हुआ जब प्राप्त मनुष्य शरीर को छोडकर अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार का धारी होकर लोक के अग्रभाग मे सिद्धत्व को प्राप्त होता है उस समय उसके आठ कर्मों के नाश से आठ गुण प्रकट होते हैं। ज्ञानावरण कर्म के नाश से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनन्त दर्शन, अन्तराय के नाश से अनन्त वीर्य, वेदनीय के नाश से अव्या-बाधत्व या इन्द्रिय जनित सुख का अभाव, मोहनीय के नाश से क्षायिक सम्यक्त्व या अनन्त सुख, आयु के नाश से परम सूक्ष्मत्व अथवा जन्म मरण का विनाश, नाम के नाश से अव-गाहनत्व या अमूर्तत्व, गोत्र के नाश से अगुरुलघुत्व या उच्च-कुल नीच कुल का अभाव होता है।

यह जीव आत्मा नाम से भी कहा जाता है—ऐसा पूर्व में कहा गया है। अध्यात्म वाणी से यह आत्मा तीन प्रकार का भी है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर

परमात्मा वेति। शरीरादौ य आत्मबुद्धि करोति स बहिरात्मा, तद्विपरीतो जातात्मेतरविवेक अंतरात्मा, विमुक्तकर्ममलकलङ्कश्च परमात्मा प्रोच्यते। परमात्मा साध्य: अंतरात्मा च साधनं, बहिरात्मा तु हेय:। न चैतेषु त्रिपु आत्मसु द्रव्यार्थदिशात् कोपि भेदोऽस्ति। पर्यायार्थदिशात्तु भेद: स्पष्ट एव। एक एवात्मा पर्यायेण त्रिरूप: प्रोच्यते। यथा मनुष्यत्वापेक्षया सर्वे मनुष्या: समाना:। राजापि मनुष्यो रङ्कश्चापि मनुष्यो, न कश्चन तत्र भेदोऽस्ति। मनुष्यगणनावसरे समान्येनैव सर्वेषां गणना विधीयते। तथैव आत्मत्वसामान्येन नैते कंचनापि भेदमर्हंति। सर्वेष्वात्मसु परमात्मत्वाविर्भावशक्तिर्विद्यते। केवलं तच्छक्ति-प्रकटनाय प्रयत्नोऽपेक्ष्य:। नचात्रेश्वराख्यो भिन्न आत्मा।

वगैरह मे आत्म बुद्धि करता है वह बहिरात्मा है। उससे उल्टा अर्थात् जिसे स्वपर का भेदज्ञान हो जाता है वह अन्तरात्मा है और जो कर्ममल की कालिमा से रहित हो जाता है वह परमात्मा कहा जाता है। परमात्मा बनना ध्येय है, अन्तरात्मा होना उसका कारण है और बहिरात्मा होना तो छोडने योग्य है। इन तीनों आत्माओ मे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तो भेद साफ ही है। एक आत्मा ही पर्याय की अपेक्षा तीन रूप कहा जाता है। जैसे मनुष्यता की अपेक्षा सारे मनुष्य समान हैं। राजा भी मनुष्य है और गरीब भी मनुष्य है—वहा कोई भेद नहीं है। मनुष्य गणना के समय सामान्य रूप से ही सब की गणना मनुष्यों मे की जाती है। उसी प्रकार सामान्य आत्मा की अपेक्षा इन तीनो में कोई भेद नही है। सम्पूर्ण आत्माओं में परमात्मा बनने की शक्ति मौजूद है। सिर्फ उस शक्ति को प्रकट करने का प्रयत्न करना होता है। जैन धर्म में ईश्वर नाम का

परमात्मन एवेश्वरत्वात् । एष भेदस्तु कर्मकृत: । यथा शुद्धाशुद्धकांचनयोः किट्टकालिकादिकृत भेदः । एतदपसरणे तु निखिलमपि कांचनं समानमेव । तथैवात्मान अपि सर्वे समानाः एव कर्मापसरणे ।

ये त्वात्मनो नरनारकादिपर्यायकृत जातिकुलादिकृत शरीरकृतं च भेदं वास्तविक मन्यंते ते मूढा बहिरात्मान एव । न तेषां कदाचनापि मुक्तिः स्यात् । तथा चोक्तं पूज्यपादेन महामनसा—

1978

बहिरात्मेंद्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थ सुरं तथा ।

कोई भिन्न आत्मा नहीं माना जाता। परमात्मा ही ईश्वर है। यह भेद तो कर्म के कारण से है। जैसे शुद्ध और अशुद्ध सोने में किट्टिमा-कालिमा वगैरह का भेद है। जब यह किट्टिमा कालिमा दूर हो जाती है तो सब सोना समान ही है। उसी प्रकार कर्मो के हट जाने पर सम्पूर्ण आत्माएँ समान ही हैं।

जो जीव के नर नारकादि पर्यायों से, जातिकुलादि से और शरीर से होने वाले भेद को सत्य मानते है वे मूर्ख तो बहिरात्मा ही हैं। उनकी मुक्ति कभी नही होगी। जैसा कि महामना पुज्यपाद आचार्य ने कहा है—

आत्मज्ञान शून्य वहिरात्मा इन्द्रियों से प्रकट होने वाले अपने शरीर को ही आत्मा निश्चय करता है।

वह मूर्ख, मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य मानता है, तिर्यंच शरीर में रहने वाले को तिर्यंच तथा देव के शरीर में रहने वाले आत्मा को देव समझता है। नारकी के शरीर

आरकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ।"

कर्मबंधनबद्ध एवात्मा यदा गुरूपदेशादभ्यासात् स्वसंवित्तेश्च स्वपरांतरं विजानाति तदा मोक्षाभिमुखो भवति । स एव च यदा संसारसौख्यमोक्षसौख्ययोर्वस्तुतोऽन्तरमनुभवति, तदैव तस्य स्वानुभूतिः प्राप्ता भवेत् ।

का स्वानुभूतिरितिचेत्, मनोविश्रांत्यात्मकः स्वोत्थसुखास्वाद एव चेति । एतादृशीमनुभूतिमनुभवत्यतरात्मा ।

वस्तुतस्तु वाह्यगुरूपदेशो निमित्तमात्रं । ततः स्वयमेवात्मना स्वोत्थाने बद्धपरिकरेण भवितव्यम् । अन्यथा वाह्यनिमित्तं न किंचिदभिलषितं साधयेत् । निमित्तान्यन्वेषयंतो जना लौकिका-

---

मे रहने वाले आत्मा को नारकी जानता है । पर आत्मा वास्तव मे ऐसा नहीं है । वह तो अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति का पुंज है, निश्चल है और स्वयं आत्मा के द्वारा ही जाना जाता है।"

कर्मबंधन से जकड़ा हुआ जीव ही जब गुरु के उपदेश, शास्त्रों के पठन पाठन और आत्मज्ञान के द्वारा स्व और पर के अन्तर को जानता है तब वह मोक्ष के सन्मुख होता है और वही जब ससार सुख और मोक्ष के सुख का वास्तविक भेद अनुभव करता है, तभी उसे स्वानुभूति प्राप्त होती है ।

स्वानुभूति क्या है ऐसा पूछो तो मन के विश्राम पूर्वक आत्मा से उत्पन्न परम आह्लाद का स्वाद आना ही स्वानुभूति है । ऐसी अनुभूति अन्तरात्मा ही अनुभव करता है ।

वास्तव में तो बाह्य मे गुरु का उपदेश निमित्त मात्र ही है । इसलिए स्वयं आत्मा को ही अपने उत्थान के लिए तत्पर होना चाहिए, नही तो बाह्य निमित्त कुछ भी इच्छा पूर्ति नही

र्थेऽपि न कृतार्था भवति किं पुनरलौकिकार्थे। प्रात्मोत्थानं चाविद्याविनाशात् अविद्याविनाशश्च स्वकीयज्ञानमयज्योतिषा। तदेवाविद्याभिदुरं। तस्यैव पृच्छा कर्तव्या मुमुक्षुभिस्तस्यैवान्वेषणं दर्शनं च। तेनैवाऽयमात्माऽविद्यामयं पररूपं विनाश्य विद्यामयं स्वकीयरूपं प्राप्नुयात्। तथा चाहुर्महर्षयः—

✓ अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्,
तत् प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।
✓ तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्,
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।

कर सकता। निमित्तों के पीछे पडने वाले लोग तो सासारिक काम में भी सफल नहीं हो पाते, फिर आध्यात्मिक कार्य में तो सफल ही क्या होगे? और आत्मा का उत्थान अज्ञान के नाश से होता है और अज्ञान का नाश आत्मिक ज्ञान के प्रकाश से होता है। वह प्रकाश ही अविद्या का नाशक है। उस ज्योति या प्रकाश के बारे में ही आत्महित चाहने वाले को प्रश्न करना चाहिए, उसी की खोज और उसी का दर्शन करना चाहिए। उसी से यह आत्मा अविद्यामय पर रूप का नाश कर विद्यामय अपने निजरूप को प्राप्त होगी। महर्षियों ने यही कहा है—

"अविद्या को नष्ट करने वाली परमोत्कृष्ट एवं महान् जो ज्ञान रूप ज्योति है, मोक्ष चाहने वाले लोगों का कर्त्तव्य है कि वे उसी ज्योति के विषय में प्रश्न करें, उसी की खोज करें और उसी का साक्षात्कार करें।

उस ज्ञान ज्योति के बारे मे ही बोले, उसी के बारे मे दूसरो को पूछे, उसीको प्राप्त करने की इच्छा करे और उस रूप ही हो जाय जिससे यह आत्मा अविद्यामय रूप को छोड़कर अपने ज्ञान स्वभाव को प्राप्त करले।"

यश्चात्मविमुखोऽविद्वान् पुद्गलद्रव्यमभिनंदति तदेवचात्मसात् कर्तुं प्रयतते, तत्संयोगे हर्षति तद्वियोगे च दुःखीयति तदेव च स्वात्मोन्नतिकारणमभिमन्यते तस्य बहिरात्मनः तत्कर्मनोकर्मरूपं पुद्गलद्रव्यं न कदाचिदपि सामीप्यं मुंचति। तस्य यत् किंचित् सौख्यं भवति तत् कर्माधीनं, शांतं, दुःखविमिश्रितं, पापबीजं च। अतो बहिरात्मत्वं विहायान्तरात्मत्वलब्धौ प्रयत्नो विधेय। स एव धर्म्यशुक्लध्यानबलेनोत्तरोत्तरमात्मगुणस्थानान्यारोहति। बहिरात्मा तु प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेवनातिक्रमते। कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविष्ट एष ज्ञानचेतनाविरहितः कर्मकरणे कर्मफलभोगे चासक्तः न कदापि शान्तिमधिगच्छति। अंतरात्मा तु ज्ञानचेतनाभावितान्तःकरणः सम्यग्दृष्टिः कर्म-

---

आत्म ज्ञान से शून्य जो मूर्ख पुद्गल द्रव्य की प्रशंसा करता है और उसी को अपनाने का प्रयत्न करता है, उसके मिल जाने पर प्रसन्न होता है और उसके वियोग में दुखी होता है और उसीको आत्मा की उन्नति का कारण मानता है उस बहिरात्मा का कर्म नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य कभी साथ नहीं छोड़ता। उसे जो कुछ सुख मिलता है वह कर्मों के अधीन होता है, अन्त सहित होता है, दु.ख से मिला होता है और पाप का कारण होता है। इसलिये बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिए। वही जीव धर्म्यध्यान शुक्लध्यान के बल से अपने आगे आगे के गुणस्थानों पर चढता है। बहिरात्मा तो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से आगे ही नहीं चढ़ता। ज्ञान चेतना से रहित यह बहिरात्मा कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से ग्रस्त रहता हुआ कर्म करने और कर्म के फल भोगने मे आसक्त रहता है और कभी शांति प्राप्त नही करता। ज्ञान चेतना रूप है हृदय जिसका ऐसा

मात्कहेमकमलवत् निर्लेपः स्वात्मानदमनुभवति ।

अंतरात्मा त्रिविधः असंयमी, संयमासंयमी, संयमी च । तत्र चतुर्थगुणस्थानवर्तीसमुपलब्धस्वरूपाचरणसामर्थ्योऽपि चारित्र-मोहकर्मोदयात् यावत् संयमं धारयितुं समर्थो न भवति तावदसंयमी अंतरात्मा प्रोच्यते । धृतैकदेशसंयम. स्वात्मानुभूति-कुशलः पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकस्तु सयमासंयम्यन्तरात्मपद-वाच्यः । इमौ द्वौ धर्म्यध्यानेन स्वसंस्कार कुरुतः । षष्ठगुणस्थानादारभ्य द्वादशगुणस्थानपर्यन्त सप्तगुणस्थानेषु संयमिनोऽन्तरात्मानो भवंति । एते हि विजितसकलचारित्रमोहकर्माणः सप्तम-गुणस्थानांतं धर्म्यध्यानेन ततः परं शुक्लध्यानेनात्मशुद्धितत्पराः

अन्तरात्मा तो सम्यग्दृष्टि होता है वह कीचड से पैदा हुए स्वर्णिम कमल की तरह कर्मो से लिप्त नही होता और अपने आत्मा से पैदा हुए आनन्द का अनुभव करता है ।

अन्तरात्मा के तीन प्रकार हैं—असयमी, सयमासयमी और सयमी । उनमें जब तक चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव स्वरूपाचरण चारित्र की शक्ति को प्राप्त करके भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से संयम धारण करने में समर्थ नहीं होता तबतक वह असयमी अन्तरात्मा कहलाता है । जिसने एकदेश संयम धारण किया है, जो अपनी आत्मा के अनुभव मे प्रवीण है ऐसा पंचम गुणस्थानवाला श्रावक तो सयमासंयमी अन्तरात्मा पद के द्वारा कहा जाता है । ये दोनों धर्म ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करते है । छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थान वाले संयमी अन्तरात्मा कहलाते हैं । चारित्र मोहनीय कर्म को सम्पूर्ण रूप से जीतते हुए ये संयमी अन्तरात्मा सातवे गुणस्थान तक धर्म्य ध्यान से और उससे आगे शुक्ल ध्यान से आत्म-शुद्धि मे

उपशांतक्षीणमोहप्रकृतय: स्वात्मानुभवं कुर्वंति। स्वात्मानुभवस्तु रागद्वेषोपरमादिष्टानिष्टकल्पनाभावात् स्वात्मन्यवस्थानं। पंचपरमेष्ठिषु त्रय: परमेष्ठिन: आचार्योपाध्यायसाधव: अंतरात्मान एव।

परमात्मा द्विविधो सशरीरोऽशरीरश्चेति। तयोरेकत्ववितर्काविचाराभिधद्वितीयशुक्लध्यानेन विनष्टज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यचतुर्घातिकर्मा समवाप्तलोकालोकप्रकाशककेवलावबोध: त्रयोदशचतुर्दशगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर इतरो वा केवली सशरीरपरमात्मा कथ्यते तस्य शरीरेण-सहितत्वात्। एष त्रयोदशगुणस्थानवर्ती सदेहपरमात्मैव तीर्थं प्रणोति-भव्यान् भवाम्बोदधितारकं धर्ममुपदिशति च। सकलसुरासुरनरेंद्र-

---

तत्पर रहते हुए मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम या क्षय करते हुए अपने आत्मा का अनुभव करते हैं। राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर इष्ट अनिष्ट कल्पना के न होने से अपने आत्मा मे ही स्थिर होना स्वात्मानुभव है। पाच परमेष्ठियो मे आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीनों ही अन्तरात्मा हैं।

परमात्मा दो प्रकार का है-शरीर सहित और शरीर रहित। उन दोनो मे एकत्ववितर्कवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान के वल से जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारो घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसा तेरहवे गुणस्थानवाला तीर्थंकर या दूसरा केवली सशरीर या सकल परमात्मा कहलाता है; क्योकि वह शरीर सहित होता है। तेरहवें गुणस्थानवाला यह सदेह तीर्थंकर परमात्मा ही तीर्थ चलाता है और भव्य जीवो को ससार समुद्र से पार लगाने वाले धर्म का उपदेश करता है। सम्पूर्ण इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्ती जिनके चरण कमलो की सेवा

सेवितचरणाब्ज. एषोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याख्याऽनतचतुष्टय-समन्वितात्माऽर्हत्, जिनेंद्र, आप्त, इत्यादि शब्दै. व्यवह्रियते अर्हायोग्यत्वात् अरिहननाद्रजोरहस्यहरणाच्च परिप्राप्तानंतचतुष्टयस्वरूप सन् इंद्रादिनिर्मितामतिशयवती पूजामर्हतीतिनिरुक्तिविषयत्वात्—कर्मजेतृणा सम्यग्दृष्टचादीनामधीशत्वात्, आगमेशित्वाच्च। अयमपि सयोगायोगकेवलिभेदेन द्विविध:।

अशरीरपरमात्मनस्तु पूर्वोक्ता सिद्धा एव।

अजीव तत्त्वम्

1080 आत्मतत्त्वातिरिक्त यत्किंचिद् दृश्यमदृश्यं चास्ति तत् सर्वमजीवतत्त्वं प्रोच्यते। प्रामुख्येन तद्द्वयमेव तत्त्वम्। अवशिष्टानि

करते है और जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य नामक अनन्त चतुष्टय से संयुक्त होते हैं ऐसा वह आत्मा अर्हंत्, जिनेन्द्र, आप्त वगैरह शब्दों से कहा जाता है। पूजा के योग्य होने से मोहनीय के नाश से तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण एव अन्तराय का नाश करने से अनन्त चतुष्टय स्वरूप को प्राप्त करते हुए इन्द्रादिकों द्वारा की गई दिव्य पूजा के योग्य, इस निरुक्ति के धारक होने से, वह अर्हंत् कहा जाता है। कर्म जीतने वाले सम्यग्दृष्टि लोगो के नाथ होने से वह जिनेन्द्र कहा जाता है और आगम का प्रणेता होने से वह आप्त कहा जाता है। यह सकल परमात्मा सयोग केवली अयोग केवली भेद से दो प्रकार का है।

अशरीर या निकल परमात्मा तो पहले कहे गए सिद्ध ही है।

अजीव तत्त्व

आत्म तत्व को छोडकर जो कुछ दिखाई पडनेवाला अर्थात् स्थूल तथा न दिखाई पडनेवाला अर्थात् सूक्ष्म पदार्थ है वह

आस्रवादीनि पंचतत्त्वानि तु एतद्द्वयनिमित्तकानि । तदजीव-तत्त्वं पंचविधं । पुद्गलो धर्मः अधर्मः आकाशं कालश्चेति । पूर्वोक्तं जीवतत्त्वमिमानि पञ्च च मिलित्वा षड्द्रव्याणीति प्रोच्यते, गुणपर्यंयवत्त्वात् सत्त्वाद्वा । सत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात् । को गुणः कश्च पर्याय इति चेत्, सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनश्च पर्यायाः । अत्रैषामजीवद्रव्याणां संक्षेपतो विवेचनं विधीयते—

पुद्गलद्रव्यं—रूपरसगंधस्पर्शवत्त्वं पुद्गलत्वं । यत् किंचित् स्पृश्यते रस्यते गंध्यते दृश्यते श्रूयते वा तत्सर्वं पुद्गलात्मकमेव ।

सब अजीव तत्त्व कहा जाता है । मुख्य रूप से ये दो ही तत्त्व हैं । बाकी आस्रव वगैरह पांच तत्त्व तो इन दोनों की पर्यायें हैं । वह अजीव तत्त्व पांच प्रकार का है–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । पहले कहा गया जीव तत्त्व तथा ये पांच मिलकर छह द्रव्य हैं ऐसा कहा जाता है गुणपर्यायवान् होने से अथवा सत् होने से । उत्पाद व्यय ध्रौव्यवान् को सत् कहते हैं । गुण क्या है–पर्याय क्या है ऐसा प्रश्न होने पर, जो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं-कभी अलग नहीं होते वे गुण कहे जाते हैं और जो एक के बाद एक होती है वे पर्याय कही जाती हैं । यहां इन अजीव द्रव्यों का संक्षेप में कथन किया जाता है:—

पुद्गल द्रव्य

जो रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त हो उसे पुद्गल कहते है । जो कुछ छूया जाता है, चखा जाता है, सूंघा जाता है, देखा जाता है अथवा सुना जाता है वह सब ही पुद्गल है ।

नन्वस्तु स्पर्शरसगंधवर्णाना पुद्गलात्मकत्वं शब्दस्य तु आकाशगुणत्वात् कथ पुद्गलत्वमितिचेन्न, शब्दो नाकाशगुणः मूर्तिमत्वात् । ननु अमूर्तः शब्द इतिचेन्न मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनात् शब्दस्य मूर्तिमत्वात् । शब्दो हि मूर्तिमता इंद्रियेण गृह्यते, मूर्तिमता कुडचादिना चाव्रियते, मूर्तिमता प्रतिकूलवाय्वादिना तस्य व्याघातो भवति, बलीयसा ध्वन्यंतरेण तस्याभिभवो दृश्यते इति तस्य मूर्तिमत्त्वं तर्कसिद्धं ततश्च पुद्गलत्वं ।

तथैव पुण्यापापाख्यस्य कर्मणोऽपि पुद्गलात्मकत्वमेव । स्यादेतत् कर्मणः पुद्गलात्मकत्वमसिद्धमात्मगुणत्वात्तस्येति न वक्तव्यं, तस्यात्मगुणत्वाभावात् । किं कारणमितिचेत्-अमूर्तेर-

---

शंकाकार शंका करता है कि स्पर्श रस गन्ध वर्ण तो पुद्गल की पर्याय हो सकती है परन्तु शब्द तो आकाश का गुण है वह पर्याय कैसे होगा ? ऐसा कहना ठीक नही, शब्द आकाश का गुण नही है मूर्तिक होने से । कोई कहे कि शब्द अमूर्त है- ऐसा नही हो सकता । पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाने से, रुकने से, टकराने से, दबने से शब्द मूर्तिक ही है । निश्चय पूर्वक शब्द मूर्तिक श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, मूर्तिक दीवार वगैरह से रुकता है, मूर्तिक प्रतिकूल हवा वगैरह से वह टकराता है, बलवान् दूसरे शब्द से उसका दब जाना प्रतीत होता है । इसलिए उसका मूर्तिक होना तर्कसिद्ध है और इसीलिये वह पुद्गल की पर्याय है ।

उसी प्रकार पुण्य पाप नामक कर्म भी पुद्गल की पर्याय ही हैं । शंका है कि कर्म पौदगलिक नही हो सकता ; क्योंकि वह आत्मा का गुण है । ऐसा नही कहना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का गुण नही है । क्यों नही ऐसा पूछो तो-अमूर्त आत्मा

नुग्रहोपघाताभावात् । यथाकाशममूर्तं दिगादीनाममूर्तानां नानुग्राहकमुपघातक च, तथैवामूर्त कर्मामूर्तेरात्मनोरनुग्रहोपघातयोः हेतुर्न स्यात् ।

ननु पुण्यापापाख्यमदृष्ट धर्माधर्मनाम्ना प्रोच्यमानं कर्म आत्मगुण एवेति चेन्न, अदृष्टस्यात्मगुणत्वासंभवात् । यदि तत् आत्मगुण. स्यात्तदा न कदापि तस्य ससारहेतुत्व भवेत् । न च स्वगुण एव कस्यचिद् बधहेतुर्दृष्ट श्रुतो वा । अन्यथा न कदापि तस्य मुक्तिः सभवेत् । अत कर्मण पौद्गलिकत्वमेवाङ्गीकार्यं । तथैव तमश्छाया तपोद्योतादीनामपि पौद्गलिकत्वमेवेंद्रिय-ग्राह्यत्वात् ।

का उसके द्वारा उपकार और अपकार नही हो सकता । जिस तरह अमूर्त आकाश अमूर्त दिशा वगैरह का उपकारक और अनुपकारक नहीं होता, उसी तरह अमूर्त कर्म अमूर्त आत्मा के भला बुरा करने का कारण नहीं हो सकता ।

शंका–पुण्य पाप नाम से कहा जाने वाला अदृष्ट, धर्म अधर्म नाम से कहा जाने वाला कर्म आत्मा का ही गुण है–ऐसा नही हो सकता; अदृष्ट आत्मा का गुण नही हो सकता । यदि अदृष्ट आत्मा का गुण हो जाय तो वह कभी ससार का कारण न हो; क्योकि अपना गुण ही किसी के बध का कारण न तो देखा ही गया और न सुना ही गया । इसके विपरीत जीव की कभी मुक्ति नही हो सकेगी । इसलिए कर्म को पौद्गलिक मानना ही ठीक है । इसी प्रकार अन्धकार, छाया, धूप, चादनी वगैरह भी पौद्गलिक ही हैं, क्योकि वे इन्द्रियो से ग्रहण किए जाते हैं ।

पुद्गलस्य सक्षेपतो द्वौ भेदौ, अणुस्कन्धभेदात् । प्रदेशमात्र-भाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येन अण्यन्ते शब्द्यन्ते इति अणवः । अणवो हि सूक्ष्मत्वादात्मादय', आत्ममध्याः, आत्मान्ताश्च । स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपादिव्यापारस्कन्धनात् स्कन्धा इति संज्ञायते । यद्यपि द्व्यणुकादय केचित् स्कन्धाः ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारायोग्यास्तथापि रूढौ क्रिया क्वचित् सती उपलक्षणत्वेनाश्रीयत इति तेष्वपि स्कन्धाख्या प्रवर्तते । कथमनयोरुत्पत्तिरितिचेत्—अणवो हि भेदादेवोत्पद्यन्ते । स्कन्धास्तु केचिद् भेदात्, केचित् संघातात्, केचिच्च द्वाभ्यामेताभ्या, अन्यतो भेदेन अन्यस्य च सघातेन इति । यस्तु स्कन्धोऽचाक्षुष च भेदसघाताभ्या चाक्षुषो भवति । सत्यपि तद्भेदे अन्यसंघातात् सौक्ष्म्यपरिणामपरित्यागे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति ।

पुद्गल के संक्षेप में दो भेद हैं-अणु और स्कन्ध । जो प्रदेश मात्र है और भविष्य में स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की शक्ति द्वारा जो शब्दायमान हैं वे अणु है। सूक्ष्म होने से निश्चय पूर्वक वे अणु स्वयं ही आदि रूप होते है, खुद ही मध्य रूप और स्वय ही अन्त रूप होते हैं । स्थूल होने से उठाना, रखना वगैरह व्यापार जिनमें संभव हो वे स्कन्ध कहे जाते हैं । यद्यपि द्व्यणुक वगैरह कई स्कन्ध ऐसे हैं जिनमें उठाना रखना रूप व्यापार नही होता तो भी कही क्रिया के रूढ हो जाने पर उपलक्षण रूप से उसका आश्रय लेलिया जाता है इसलिए द्व्यणुक वगैरह भी स्कन्ध कहे जाते है । अणु और स्कन्ध की उत्पत्ति किस तरह होती है—पूछा जाने पर—अणु तो भेद से ही उत्पन्न होते है । और स्कन्ध कई भेद से, कई संघात से और कई भेद-सघात दोनो से अर्थात् कुछ के निकलने से और कुछ के मिलने से वे बनते हैं । जो स्कन्ध इन्द्रियो से दिखाई नही पड़ता वह भेदसघात से आंखों से दिखाई पडने लगता है । सूक्ष्म स्कन्ध मे से कुछ निकलने पर और अन्य के मिलने पर उसका सूक्ष्म परिणमन छूटकर स्थूलता उत्पन्न हो जाती है और तब वह दिखाई पडने लगता है ।

ननु पुद्‌गलाना बन्धोत्पत्तो को हेतुरिति चेत्-एतत्स्निग्धरूक्ष-गुणादेवैतेषां बन्धो भवति। स्निग्धत्वं हि चिक्कणगुणलक्षण-स्तस्य पर्याय· तद्विपरीतपरिणामो हि रूक्षत्वं एष बन्धो द्व्य-धिकगुणयोः पुद्‌गलयोर्भवति, न चैतन्न्यूनाधिकयोः। बन्धे च सति द्व्यधिकगुणः स्कन्धः स्वपारिणामिको भवति, यथा क्लि-न्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेण्वादीनां स्वगुणोत्पादनाद पारिणामिक· इति।

धर्माधर्मद्रव्यसिद्धिः—धर्मद्रव्यलक्षणं–जीवपुद्‌गलाना गतिरूप-परिणतानामुदासीनतया गतिहेतुत्वं, यथा जलं मत्स्यगमने।

शंका है:—पुद्‌गलों के वध होने का क्या कारण है? उत्तर है–स्निग्ध रूक्ष गुण होने से ही इनका वन्ध होता है। स्निग्धता चिकनाई को कहते हैं और रूक्षता रूखेपन को। यह वन्ध दो गुण अधिक परमाणुओं का ही होता है, कम और ज्यादा गुणवालों का नही अर्थात् एक परमाणु मे स्निग्धता या रूक्षता के दो गुण हो और दूसरे परमाणु में स्निग्धता या रूक्षता के चार गुण हो तभी बन्ध होगा–इस तरह तीन गुण वाले का पाच गुण वाले से, चार गुण वाले का छह गुण वाले से वन्ध होगा। और वन्ध हो जाने पर दो गुण अधिक वाला परमाणु कम गुणवाले परमाणु को अपने रूप परिणमन कर लेता है। जैसे वहुत मीठा वहने वाला गुड पडे हुए मिट्टी के कणों में अपना गुण उत्पन्न करके अपना जैसा वना लेता है।

धर्म–अधर्म द्रव्य की सिद्धि

चलते हुए जीव और पुद्‌गलों को उदासीन रूप से गति मे सहायक होना धर्म द्रव्य का लक्षण है अर्थात् यह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके नही चलाता किन्तु जो जीव और पुद्‌गल

ाधर्मद्रव्यलक्षणं च तेषां तथैव स्थितिरूपपरिणतानां स्थिति-
ुतुत्वं, यथा पथि गच्छतामातपक्लान्तानां छाया। न चेमौ
र्माधर्मौ तेषां गतिस्थित्योः प्रेरकौ अपितु स्वयं तथापरिणम-
ानानां तेषामुदासीनौ हेतू। अतएव तुल्यबलत्वात्तयोर्गति-
स्थितिप्रतिबंधारेकाऽपि निरस्ता।

ननु प्रमाणाभावादनुपलब्धेश्च न धर्माधर्मद्रव्यास्तित्वमिति-
चेन्न अनुमानतस्तयोरस्तित्वसिद्धेः। तथाहि-विवादापन्नाः
सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा
युगपद्भाविगतित्वात्, एकसरः सलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत्।

स्वयं गति करते है उनको माध्यम बनकर सहायक होता है, जैसे मछली के चलने में जल, ठहरने वाले जीव और पुद्गलों को ठहरने में जो साधारण कारण होता है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे धूप से त्रस्त पथिकों को ठहरने में छाया सहकारी होती है। यह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलने और ठहरने में प्रेरक कारण नही हैं बल्कि अपने आप चलते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलो के चलने और ठहरने मे उदासीन कारण हैं। इसीलिए दोनो द्रव्यों के समान शक्तिशाली होने से गति और स्थिति में बाधा पडने की शंका भी निमूंल हो जाती है।

शंका उठती है कि साधक प्रमाण के न होने से तथा दिखाई न पडने से धर्म तथा अधर्म द्रव्य का सद्भाव ही नहीं है, यह ठीक नही—अनुमान प्रमाण से उन दोनों द्रव्यों का सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे कि:—विवादास्पद गतिमान जीव और पुद्गलो का समूह साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाला है, युगपद् भावी गति वाला होने से। एक सरोवर के जल का आश्रय लेने वाली अनेक मछलियों की गति की भांति। अर्थात् जैसे एक सरोवर में निवास करने वाली मछलियो को

तथा सकलजीवपुद्गलस्थितय साधारणवाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविस्थितित्वात् एक कुण्डाश्रयानेकवदरादिस्थितिवत् । यः साधारणं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्च । ताभ्या विना तद्गतिस्थितिकार्यस्यासंभवात् ।

परस्परं पदार्था गतिस्थितिपरिणामहेतव इति चेन्न, परस्पराश्रयप्रसंगात् । ननु पृथिव्यादय एव साधारणनिमित्तानि गतिस्थित्यो. इतिचेन्न, गगनवर्तिपदार्थगतिस्थितीनाम् तदसंभवात् । ननु नभ एव साधारणं निमित्तं तर्ह्यस्तु इतिचेन्न, तस्यावगाहनिमित्तत्वप्रतिपादनात् । तस्यैकस्यैवानेककार्यनिमित्त-

---

उस सरोवर का जल गमन करने मे सहायक होता है, उसी भांति धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलो के गमन मे सहायक हैं । इसी तरह स्थिति स्वभाव वाले समस्त जीव और पुद्गल साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाले है, युगपद् भावी स्थिति वाले होने से । एक कूंडे में रखे हुए अनेक बेर वगैरह फलों की स्थिति की तरह । जो साधारण निमित्त है वह धर्म और अधर्म है । इन दोनो द्रव्यो के बिना जीव और पुद्गलों का गति और स्थिति रूप कार्य नही हो सकता ।

आपस मे पदार्थ ही गति और स्थिति रूप परिणमन में कारण है-ऐसा मानना ठीक नही । इससे तो अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग होगा । पृथ्वी जल वगैरह ही गति और स्थिति में साधारण कारण हैं ऐसा कहना भी अनुपयुक्त है । आकाश में रहने वाले पदार्थो की गति और स्थिति मे वे कारण कैसे होगे ? आकाश को गति और स्थिति का साधारण कारण मानना भी उपयुक्त नही—उसको तो जगह देने का साधारण निमित्त कहा है । उस अकेले आकाश को ही अनेक कार्यो का कारण माना जाय तो अनेक व्यापक पदार्थो की कल्पना व्यर्थ

तायामनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनानर्थक्यात् । कालादिकार्याणामपि नभोनिमित्तकत्वोपपत्तो यदि कार्यविशेषात् कालादीना भिन्नत्वं तर्हि धर्मादीनामपि, सर्वथा विशेषाभावात् ।

यच्चोक्तमनुपलब्धेरिति तन्न, अन्यथा सर्वेषामनुपलब्धानामसिद्धिप्रसंगस्ततो धर्माधर्मद्रव्यास्तित्वसिद्धि: । इमे च धर्माधर्मद्रव्ये न पुण्यपापात्मके तत: सर्वथाभिन्नात्मकत्वात् । पुण्यपापं हि पौद्गलिकमिमे चापौद्गलिके निष्क्रिये च, इमे हि लोकाकाशे सर्वव्यापके । ननु धर्माधर्मयो: निष्क्रियत्वात् जीवपुद्गलानां गतिहेतुत्वं नोपपद्यते, क्रियामतामेव जलादीना मत्स्यादीनां गतिहेतुत्वदर्शनात् । नैष दोष: बलाधाननिमित्तत्वात् । एते हि

हो जायगी । तब तो आकाश ही काल वगैरह द्रव्यो के कार्य का भी निमित्त हो जायगा । यदि कार्य के भिन्न होने से कालादि पदार्थ भिन्न है तो धर्म, अधर्म भी भिन्न सिद्ध होगे क्योंकि उनके भी कार्य भिन्न भिन्न है ।

और जो यह कहा गया कि धर्मादि द्रव्य दिखाई नही पडते अत: उनका अस्तित्व नही—तब तो सम्पूर्ण ही अप्राप्त पदार्थों की सिद्धि न हो सकेगी, इसलिए धर्म तथा अधर्म द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध है । ये धर्म और अधर्म द्रव्य पुण्य और पापरूप नही है । ये उन दोनों से बिलकुल भिन्न है । पुण्य और पाप तो पौद्गलिक है और ये निश्चय से पुद्गल की पर्याय रूप नही और ये दोनो क्रिया रहित हैं । निश्चय से ये दोनो द्रव्य लोकाकाश मे तिलों मे तेल की तरह सब जगह व्यापक हैं । यह शंका करना कि धर्म और अधर्म द्रव्य जब निष्क्रिय है तो जीव और पुद्गल के गति में सहायक नही हो सकते । क्रियाशील जल वगैरह ही मछलियो के गति मे सहायक होते देखे जाते है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि ये दोनों उदासीन

गतिस्थितिपरिणतानां बलाधान कुर्वतः न तु स्वय प्रेरयत ।

आकाशद्रव्यम्—यस्मिन् सर्वे पदार्था. अवकाशमाप्नुवंति तदाकाशं । आकाशं सर्वेषामाधारः धर्मादयश्चाधेयाः । यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः आकाशस्य कः आधारः इति । आकाशस्य नास्ति कश्चनान्य· आधार· तस्य स्वप्रतिष्टत्वात् । यद्याकाश स्वप्रतिष्ठ धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येत्र । अथ धर्मादीनामन्य आधार कल्प्यते आकाशस्याप्यन्य· आधारः कल्प्यः, तथा सत्यनवस्थाप्रसगः इति चेन्नायं दोषः, आकाशादन्यस्याधिकपरिमाणस्य द्रव्यस्याभावात् कुत्राकाशं तिष्ठेत् । सर्वतोऽनन्त

कारण है ये दोनों द्रव्य चलने और ठहरने वालों को चलने और ठहरने में साधारण कारण होते है—स्वय कभी प्रेरणा नही करते ।

आकाश द्रव्य

जिसमें सब द्रव्य स्थान पाते हैं अर्थात् जो चेतन अचेतन सम्पूर्ण द्रव्यों को रहने के लिए जगह दे उसे आकाश कहते है। आकाश सम्पूर्ण द्रव्यों का आधार है और धर्मादिक द्रव्य आधेय है। यदि यह कहा जाय कि धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है तो आकाश का आधार क्या है तो उत्तर है कि आकाश का और कोई दूसरा आधार नही है; क्योंकि वह अपना आधार खुद ही है। अगर आकाश का आधार आकाश ही है तो धर्मादिक द्रव्यों का आधार भी वे स्वयं ही होगे। यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार दूसरे को माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिए और यदि ऐसा माना तो अनवस्था दोष का प्रसंग होगा—ऐसा कहना ठीक नही; वहा अनवस्था दोष नहीं आता। आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नही है तब आकाश कहाँ ठहरे। आकाश तो सब दिशाओं में अनन्त

हि तत्, ततो धर्मादीनामधिकरणमाकाशमित्युच्यते । तदपि व्यवहारनयवशात् । एवंभूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठान्येव । अत्राधाराधेयकल्पना साध्य फलं त्वेतावन्मात्रमेव यद्धर्मादीनि लोकाकाशाद् वहिः न संतीति ।

ननु लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावोदृष्टः यथा कुण्डे बदरादीना । न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीनि चोत्तरकालभावीनि अतो न व्यवहारनयापेक्षयाऽपि आधाराधेयकल्पनोपपत्तिः । नैष दोषः युगपद्भाविनामप्याधाराधेयभावदर्शनात् यथा घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय· ।

एतदाकाशं द्विविधं लोकाकाशमलोकाकाश च । यत्र धर्मादीनि द्रव्याणि लोक्यंते तल्लोकाकाशं ततो बहिः सर्वतोऽनंतम-

---

है और इसीलिए धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश को कहा है । और यह कहना भी व्यवहार नय की अपेक्षा से है । एवभूत नय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही है अर्थात् अपने प्रदेशों में ही रहते हैं । यहा आधार आधेय कल्पना सिद्ध करना है और उसका मात्र इतना ही फल है कि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से वाहर नही हैं ।

शंका है.—ससार मे पहले और पीछे होने वालों मे आधार आधेय भाव देखा जाता है—जैसे कून्डे मे वेरों का । उस तरह आकाश पहले वना हो और धर्मादिक बाद मे, ऐमा नहीं है; इसलिये व्यवहार नय की अपेक्षा भी इन द्रव्यो मे आधार आधेय कल्पना ठीक नही ठहरती । ऐसा तर्क भी ठीक नहीं । एक साथ पैदा होनेवालो में भी आधार आधेय भाव देखा जाता है, जैसे घट मे रूप रस वगैरह, शरीर में हाथ पांव वगैरह ।

यह आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश दो रूप मे विभाजित है । जहां धर्मादिक सब द्रव्य पाये जाते हैं वह लोका-

लोकाकाशं । अयं लोकालोकविभागस्तु धर्माधर्मास्तिकायसद्भा-वात् ज्ञातव्यः । एतद्द्वयाभावे गतिस्थित्योरभावाल्लोकालोक-विभागो न स्यात् । तस्मादुभयसद्भावाल्लोकालोकविभाग-स्थितिः ।

एतानि चत्वारि अजीवद्रव्याणि पूर्वोक्तं जीवद्रव्यं च मिलित्वा पंचास्तिकाया. प्रोच्यंते, प्रदेशबहुत्वात् काया इव काया इति । धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वात्, आकाश-स्यानंतप्रदेशत्वात् । पुद्गलानां च संख्येयाऽसंख्येयाऽनंतप्रदेश-त्वादिति । प्रदेशः किं लक्षणं इति चेत्—यावदाकाशं परमाणुना (अविभागिना पुद्गलांशेन) अवष्टब्धं तावत् प्रदेश इति कथ्यते । स तु प्रदेशः सर्वाणुस्थानदानार्हः ।

काश है और उससे परे अर्थात् लोकाकाश के चारों ओर अनन्त अलोकाकाश है । यह लोक और अलोक का विभाग धर्मास्ति-काय तथा अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व से जानना चाहिए । अगर ये दोनों द्रव्य न हों तो गति स्थिति के न होने से लोक अलोक का विभाग नहीं होगा । इसलिए इन दोनों द्रव्यों के सद्भाव से ही लोक–अलोक का विभाग स्थिर होता है ॥

ये चार अजीव द्रव्य और पहले कहा हुआ जीव द्रव्य मिल-कर पाच अस्तिकाय कहे जाते हैं । शरीर की तरह बहु प्रदेशी होने से ये काय कहे जाते हैं । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव द्रव्य के असख्यात असख्यात प्रदेश हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश हैं और पुद्गलो के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं । प्रदेश का क्या लक्षण है ऐसा पूछने पर उत्तर है—जितने आकाश को पुद्गल का अविभागी अंश परमाणु घेरता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । और वह प्रदेश सम्पूर्ण द्रव्यों के अणुओ को स्थान देने मे समर्थ होता है ।

कालद्रव्यम्—कालोहि वर्तनालक्षणः। यः स्वयं परिवर्तमानानां वस्तूनां परिवर्तनायां निमित्तकारणं भवति स एव कालः। पदार्थाः हि स्वयं परिणमंते न च कालस्तान् परिवर्तयितुं प्रेरयति अपितूदासीनतया तत्र कारणं भवति। एष कालो द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। ~~व्यवहारकालोहि~~ परमार्थ द्रव्यपरिवर्तनरूपः अयमेव मुख्यः कालः। एषोऽसंख्यकालाणुरूपः तेचासंख्यकालाणवोनिष्क्रियाः प्रत्येकमेकैकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशेऽवस्थिताः संति रत्नराशिवत् परस्परासंबद्धाः।

व्यवहारकालस्तु परिणामादिलक्षणः। द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृतिधर्मान्तरोपजननरूपोऽपरिस्पन्दात्मकः पर्यायः परिणामः

काल—द्रव्य

वर्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है। स्वयमेव परिणमनशील द्रव्यों के परिणामन में जो सहकारी कारण होता है वही काल द्रव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वय परिणामन करते है काल उन्हे परिणामन करने के लिए प्रेरित नहीं करता—मात्र उदासीन रूप से वह कारण होता है। यह काल दो प्रकार का है—परमार्थ काल और व्यवहार काल। परमार्थ काल द्रव्यों के परिवर्तन रूप है और यही मुख्य काल द्रव्य है। यह असंख्यात कालाणु रूप है और वे असख्यात कालाणु क्रिया रहित है और लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर रत्नो की राशि के समान एक एक स्थित हैं और उनका एक दूसरे से कोई सम्वन्ध नही है।

व्यवहार काल परिणाम आदि लक्षण वाला है। द्रव्य की ऐसी पर्याय जो कि एक धर्म की निवृत्ति रूप हो और दूसरे धर्म की जनन रूप हो ऐसी जो हलन चलन रहित पर्याय है वह परिणाम है। जैसे जीव के क्रोध वगैरह, पुद्गल के रूप

जीवस्य क्रोधादि पुद्गलस्य वर्णादि धर्माधर्माकाशानामगुरु-लघुगुणवृद्धिहानि कृत । आदि शब्देन क्रिया परत्वापरत्वे च गृह्यते । एष व्यवहारकालस्त्रेधा व्यवतिष्ठते-भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति । तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्य:, भूतादि-व्यपदेशो गौण: । व्यवहारकाले च भूतादिव्यपदेशो मुख्य:, कालव्यपदेशो गौण:, क्रियावद् द्रव्यापेक्षत्वात् कालकृतत्वाच्चेति ।

ननु पुद्गलाणुवत् कालाणूनामपि कथ न अस्तिकायत्वमिति चेन्न मुख्यवृत्त्या उपचारतोऽपि वा कालाणूनामस्तिकायत्वा-संभवात् । एकस्य पुद्गलाणोस्तु यद्यपि मुख्यवृत्याऽस्तिकायत्वं नास्ति तथापि नानास्कंधप्रदेशापेक्षयोपचारतस्तस्याऽस्तिकाय-त्वाभिधानं । पुद्गलाणु: कदाचित् स्कंध-संबद्ध आसीत् तादृशो

वगैरह तथा धर्म अधर्म आकाश के अगुरुलघु गुण के द्वारा होने वाली हानि वृद्धि वगैरह । आदि शब्द से क्रिया, परत्व और अपरत्व का ग्रहण किया जाता है । यह व्यवहार काल भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से तीन प्रकार है । परमार्थ काल में काल कथन मुख्य है, भूत वर्तमान वगैरह कथन गौण है । और व्यवहार काल में भूतादि कथन मुख्य है, काल कथन गौण है, क्रिया की तरह द्रव्य की अपेक्षा रखने से तथा कालकृत होने से ।

शंका:—पुद्गल के अणु की तरह कालाणुओ को भी अस्ति काय क्यों नही माना ?

समाधान—यह कहना ठीक नही । कालाणुओं को न तो मुख्य रूप से और न उपचार रूप से अस्तिकायपना संभव है । एक पुद्गलाणु के यद्यपि मुख्य रूप से अस्तिकायपना नहीं है तो भी नाना स्कन्ध प्रदेशों का कारण होने की अपेक्षा से उसे उपचार रूप से अस्तिकाय कहा है । पुद्गलाणु कभी स्कन्ध

भविष्यति वा। कालाणोस्तु न तादृशोपचारसंभावना तस्य सर्वदा पृथगवस्थानात्।

ननु जीवादीनि षड्द्रव्याणि भवद्भिः प्रोक्तानि परं नैतत् परिगणनमविकलम् द्रव्यस्य पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मभेदेन नवविधत्वादितिचेन्न, पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवंति, रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्। वायुमनसो रूपादियोगाभाव इति न वाच्यं। वायुस्तावद्रूपादिमान् स्पर्शवत्वाद् घटवत्। चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावाद्रूपाद्यभाव इति चेत् परमाण्वादिष्वपि रूपाभावः स्यात्।

मनो द्विविध, द्रव्यमनो भावमनश्च। तत्र भावमनो ज्ञानं तस्यात्मगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः। द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्

रूप था अथवा स्कन्ध रूप हो जायगा। कालाणु के तो वैसे उपचार की भी संभावना नहीं है; क्योंकि वह सदा अलग ही रहता है।

शंका:—आपने जीवादिक छह द्रव्य कहे है, लेकिन यह संख्या अधूरी है। पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन के भेद से द्रव्य के तो नौ प्रकार हैं।

समाधान:—ऐसा नही है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन इन पांचों का तो पुद्गल द्रव्य मे अन्तर्भाव हो जाता है, रूप रस गन्ध स्पर्शवान् होने से। वायु और मन रूपादिमान नही है ऐसा कहना भी ठीक नहीं। वायु रूपादिमान् है स्पर्शमान् होने से घट की तरह। चक्षु वगैरह इन्द्रियों से ग्रहण में नही आता इस लिए रूपादिमान् नहीं, ऐसा मानने पर तो परमाणु वगैरह में भी रूप का अभाव हो जायगा।

मन दो तरह का है-द्रव्यमन और भावमन। उनमे भावमन ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। अतः भावमन का आत्मा मे अन्तर्भाव हो जाता है। और द्रव्यमन रूपादि-

पुद्गलद्रव्यविकार. । रूपादिवन्मनः ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षु-रिन्द्रियवत् ।

ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तस्य पौद्गलिकत्वात् मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः ।

ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्यत्वदर्शनाद्रूपादिमत्वं न तथा वायूनां मनसां च रूपादिमत्कार्यं दृश्यते इति चेन्न तेषामपि तदुपपत्तेः । सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्य-त्वाभ्युपगमात् । न च केचित् पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति । जातिसङ्करेणारंभदर्शनात् । दिशोऽप्याकाशे-

---

मान् होने से पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। मन रूपादिमान् है ज्ञानोपयोग का साधन होने से चक्षु इन्द्रिय की तरह ।

शंका:—अमूर्त शब्द में भी ज्ञानोपयोग कारणत्व के मौजूद होने से यह हेतु व्यभिचार दोष से दूषित है ।

समाधान:—ऐसा नहीं है । शब्द पुद्गल की पर्याय होने से मूर्तिमान् सिद्ध है ।

शंका:—जैसे परमाणुओं के रूपादिमान् कार्य के दिखाई पड़ने से उन्हें रूपी मान लिया जाता है वैसा वायु और मन-का रूपादिमान् कार्य दिखाई नहीं पड़ता; अतः वे मूर्तिक नहीं ?

समाधान:—ऐसा नहीं है—वायु वगैरह के भी मूर्तिकता सिद्ध है । सम्पूर्ण परमाणुओं को सब रूपादिमान् कार्य की प्राप्ति के योग्य माना गया है । पृथ्वी जल वगैरह जाति विशेष में युक्त कोई भी परमाणु नहीं है । सब परमाणुओं की जाति एकसी है अर्थात् सब भूतों के परमाणु रूप रस गन्ध स्पर्शवान् है । दिशा का भी आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है। सूर्य

ऽन्तर्भावः। आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपंक्तिषु इत इद-मिति व्यवहारोपपत्तेः।

आस्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षतत्त्वम् । एतानि पंचतत्त्वानि पूर्वोक्तजीवाजीवतत्त्वद्वयनिमित्तकानि।

ननु तत्त्वानामेतत् क्रमस्य को हेतुरितिचेत् सर्वस्य फलस्या-त्माधीनत्वादादौ जीवग्रहणम् । तदुपकारार्थत्वात्तदनन्तरमजीवा भिधानं। तदुभयविषयत्वात्तदनंतरमास्रवग्रहणम् । तत्पूर्वकत्वात् तत्पश्चाद् बंधवचनम् । कृतसंवरस्य बंधाभावात् तत्प्रत्यनीक-प्रतिपत्त्यर्थंतदनन्तरं संवरोक्तिः । संवरे सति निर्जरोपपत्तेः तदनु-निर्जराभिधानम् । अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनं कृतम् । यद्यपि जीवाजीवयोः सर्वेषामेषां पञ्चानामन्तर्भावः कर्तुं शक्य-

---

वगैरह के उदयादि की अपेक्षा से आकाश प्रदेशों की पंक्तियों में यह अमुक दिशा है ऐसा व्यवहार बनता है।

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाच तत्त्व और हैं। ये पाचों तत्त्व पूर्व वर्णित जीव और अजीव तत्त्व दोनों की पर्याय रूप हैं।

शंका:—जीवादि तत्त्वों के इस क्रम का क्या कारण है?

समाधान:—सम्पूर्ण फल के आत्माधीन होने से सर्व प्रथम जीव का ग्रहण किया है। जीव का उपकारक होने से जीव के बाद अजीव का नाम है। जीव अजीव दोनों का विषय होने से उनके बाद आश्रव को लिया है। आश्रवपूर्वक होने से आश्रव के बाद बंध का कथन है। संवर के द्वारा बन्ध का अभाव है इससे वन्धका विरोधी प्रदर्शित करने के लिए वन्ध के बाद संवर को कहा है। संवर के होने पर निर्जरा होती है इसलिए संवर के बाद निर्जरा का नाम है। अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष तत्त्व का अन्त में कथन किया है। यद्यपि इन पांचो तत्त्वों का जीव और अजीव दोनों में अन्तर्भाव किया जा सकता है तथापि

स्तथापि संसारमोक्षतद्धेतुप्रतिपत्तिप्रयोजनार्थाय पृथङ् निर्देश आवश्यकः ।

तर्हि पुण्यपापयोरपि पृथग्ग्रहणं कर्त्तव्यमिति न वाच्यं । पुण्यपापयोरास्रवबंधभेदमात्रत्वात् । अत्रास्रवबंधयोः संसारहेतुत्वं संवरनिर्जरयोश्च मोक्षहेतुत्वमनुसंधेयम् ।

आस्रवतत्त्वम्—आत्मनो येन परिणामेन पुण्यपापरूपं कर्म आस्रवति स परिणामः, तत्कर्मागमनं चास्रव उच्यते । पूर्वोभावास्रवः अपरश्च द्रव्यास्रव इति अयं द्विविधोऽप्यास्रवः प्रत्येकं साम्परायिकेर्यापथभेदाद् द्विविधः । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः स्वोत्तरभेदविशिष्टा परिणामाः भावास्रवत्वेन परिगण्यते तद्धेतुककर्मपुद्गलानामागमनं च द्रव्यास्रवत्वेन ।

संसार और मोक्ष और उनके कारणों का ज्ञान कराने के लिए अलग कहना आवश्यक है ।

फिर तो पुण्य और पाप को भी अलग ग्रहण किया जाना चाहिए था—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि पुण्य और पाप आश्रव और बन्ध के ही भेद हैं । इनमें आस्रव और बन्ध को संसार का कारण और संवर निर्जरा को मोक्ष का कारण समझना चाहिए ।

आश्रव-तत्त्व

आत्मा के जिस परिणाम से पुण्य पाप रूप कर्म आता है वह परिणाम और ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का आना आश्रव कहलाता है । पहला भावाश्रव है और दूसरा द्रव्याश्रव । यह दोनों ही प्रकार का आश्रव साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से दो प्रकार का है । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग रूप परिणाम अपने अपने उत्तर भेदो के साथ भावाश्रव रूप माने जाते हैं और उनके कारण से कर्म पुद्गलों का आना द्रव्याश्रव है ।

ननु प्रत्येकशः कर्मणामास्रवकारणं किमिति चेत् ज्ञानदर्शनोपघातान्तरायमात्सर्यादीनि ज्ञानावरणदर्शनावरणास्रवकारणानि। दुःखशोकतापक्रंदनवधपरिवेदनादयोऽसद्वेद्यस्य, भूतव्रत्यनुकपादानक्षान्तिशौचादयः सद्वेद्यस्य, धर्माद्यवर्णवादो दर्शनमोहस्य, कषायोदिततीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य, बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकायुष, माया तैर्यग्योनस्य, अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषायुषः, सरागसंयमादयः सम्यक्त्वं च दैवस्य, मनोवाक्कायकौटिल्यमन्यथाप्रवृतिश्चाशुभशरीरादिनामकर्मणः, तद्विपरीतं

शंका:—प्रत्येक कर्म के आश्रव का कारण क्या है ?

समाधान:—ज्ञान और दर्शन के विषय में उपघात (प्रशस्त ज्ञान को दूषण लगाना), अंतराय (ज्ञान के प्रचार और प्रसार का विरोध करना), मात्सर्य (मेरे बराबर हो जायगा—इस अभिप्राय से किसी को न पढाना) वगैरह ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के आश्रव के कारण हैं। दुःख, शोक, ताप (पश्चात्ताप), आक्रंदन (विलाप), वध, परिवेदन (ऐसा रोना कि दूसरों को दया आजाय) आदि कारणों से असातावेदनीय कर्म का आश्रव होता है। भूत—अनुकम्पा, (प्राणीमात्र पर दया), व्रती अनुकम्पा (व्रतियों पर विशेष दया), दान, क्षान्ति (क्षमा), शौच (लोभ का त्याग) आदि भावों से साता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है। धर्म वगैरह के सम्बन्ध में झूठा दोष लगाना दर्शन मोह के आश्रव का कारण है। कषायो के उदय से तीव्र परिणाम होना चारित्र मोह के आश्रव का कारण है। बहुत आरंभ करना और बहुत परिग्रह रखना नरकायु के आश्रव का कारण है। मायाचार तिर्यंचायु के आश्रव का कारण है। थोडा आरंभ करना और थोड़ा परिग्रह रखना मनुष्यायु के आश्रव का कारण है। सराग संयम (राग सहित शुभाचरण) वगैरह तथा सम्यक्त्व

भावास्रवाः सन्ति वंधहेतवो वा। अपि च कुत्रचिद् योगकषाययोरेव बधहेतुत्वं, कुत्रचित् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां, कुत्रचिच्च पूर्वोक्तपचाना वधहेतुत्वम्। एतत् सर्वं कथमितिचेदित्थंः-

आस्रवो हि बधहेतुर्भवति। तस्य वधपूर्वपर्यायत्वादिति भावास्रवाणां मिथ्यात्वादीनां वंधहेतुत्ववचने कानुपपत्तिः? भावास्रवा हि द्रव्यबन्धनिमित्तकारणानि, भावबंधस्य चोपादानकारणानि। यच्च वंधहेतुसंख्याना विभिन्नत्वं तत्र तु केवलं विवक्षावैचित्र्यमेवकारणम्। वंधस्य हि चतस्रो विशेषता भवति पूर्वोक्ताः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्याः। तत्र प्रकृतिप्रदेशवंधयो' कारणयोगः, स्थित्यनुभागयोश्च कषाय इति संक्षेपतो द्वयमेवावश्यक बधकारणम्। विस्तरतस्तु गुणस्थानक्रमापेक्षया पूर्वोक्त' चतुष्टय

कषाय को ही वंध का कारण कहा है तो कही मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग को, और कहीं पर पहले कहे गए पाचो को बन्ध का कारण बताया है यह सब कैसे सगत है?

समाधानः—निश्चय से आश्रव ही वन्ध का कारण होता है। क्योकि वह बन्ध की पूर्व पर्याय है। मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवों को वन्ध का कारण वताने मे कोई असंगति नही है। निश्चय से भावाश्रव द्रव्यबन्ध के निमित्त कारण होते हैं और भाववध के उपादान कारण। और जो वन्ध के कारणो की संख्या मे विभिन्नता है उसमें तो एक मात्र कारण विचित्र वर्णन शैली ही है। बंध के पहले कहे गए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश नामक चार भेद है—उनमे प्रकृति और प्रदेश वंध का कारण योग है और स्थिति अनुभाग वन्ध का कषाय। इस तरह संक्षेप से कहने पर वन्ध के कारण दो ही उपयुक्त रहते है। और विस्तार की जहा विवक्षा होती है वहां गुणस्थानों की अपेक्षा से पहले कहे हुए चार या पांच कारण कहे

पंच वा कारणानि भवंति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादानां वस्तुतः कषायस्यैव भेदत्वात् ।

संवरतत्त्वम्—पूर्वोक्तकर्मास्रवनिरोधे आत्मनो यः परिणामः कारणं भवति सः भावसंवरः । द्रव्यसंवरश्च तेषां कर्मास्रवाणां निरोधः । गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि भावसंवरस्य भेदाः । एतेषां समवधाने मिथ्यात्वादिभावास्रवाणामभावात् । गुप्त्यादीनां सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात् मिथ्यात्वादीनांप्रतिपक्षत्वम् । कस्मिन् गुणस्थाने कासां प्रकृतीनां संवरो भवतीति ग्रंथान्तराद् बोद्धव्यम् ।

निर्जरातत्त्वम्—पूर्वसञ्चित कर्मपुद्गलद्रव्यं येनात्मपरिणामेन यथा कालं भुक्तरसं भूत्वा विशीर्यते सा भावनिर्जरा । एषा सविपाकभावनिर्जराऽपि प्रोच्यते । यत्तु कर्मपुद्गलद्रव्यं तपसा

गए है । मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद वास्तव में तो कषाय के ही भेद है।

संवर तत्त्व

आत्मा का जो चेतन परिणाम कर्मो के आश्रव को रोकने में कारण है वह भाव संवर है और उन कर्मों का आते हुए रुक जाना द्रव्य संवर है । गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र भाव संवर के भेद है। इनके सद्भाव में मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवो का अभाव हो जाता है। गुप्ति वगैरह सम्यक्त्व स्वरूप है अत मिथ्यात्व वगैरह की विरोधी है । किस गुणस्थान मे किन प्रकृतियो का संवर होता है यह दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिए ।

निर्जरा-तत्त्व

आत्मा के जिस भावसे कर्मरूपी पुद्गल यथा समय फल देकर नष्ट होते हैं वह भाव निर्जरा है । यह सविपाक भाव निर्जरा

शुभस्य नामकर्मण:, दर्शनविशुद्ध्यादय: षोडशभावना: तीर्थकरत्वस्य, परनिंदात्मप्रशंसादय: नीचगोत्रस्य, तद्विपर्ययो विनम्रवृत्त्युत्सेकाभावश्चोच्चगोत्रस्य,दानादिविघ्नकरणं चान्तरायस्यास्रवकारणम् ।

बंध-तत्त्वम्—येन चेतनभावेन कर्म बध्यते स भावबंध:, द्रव्यबधस्तु कर्मात्मप्रदेशानां परस्परानुप्रवेश: । द्रव्यबंधस्य चत्वारो भेदा: प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्या: । तत्र प्रकृतिप्रदेशबंधो कायवाङ्मनसा क्रियात्मकाद् योगात्, स्थित्यनुभागौ तु कषायाद्

(तत्त्वों की दृढ प्रतीति) देवायु के आश्रव का कारण है। मनोवाक्काय कौटिल्य अर्थात् मन में और, वचन में और, और करे कुछ और तथा अन्यथा प्रवृत्ति अर्थात् शास्त्र विरुद्ध क्रिया करने से अशुभ नाम कर्म का आश्रव होता है। मन वचन काय की सरलता तथा शास्त्र सम्मत प्रवृत्ति से शुभ नाम कर्म का आश्रव होता है। दर्शन विशुद्धि (दोष रहित निर्मल सम्यक्त्व) वगैरह सोलह कारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का आश्रव होता है। पर की निंदा, खुद की प्रशसा आदि कारणो से नीच गोत्र का आश्रव होता है। स्व निंदा, पर प्रशंसा, विनम्र भाव और निरभिमानता उच्च गोत्र के आश्रव के कारण है। दान वगैरह में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आश्रव का कारण है।

बन्ध-तत्त्व

आत्मा के जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है उसे भाव बन्ध कहते हैं और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का एक दूसरे में मिल जाना सो द्रव्य बध है। द्रव्य बंध के प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध और प्रदेश ये बन्ध चार भेद हैं। उनमें प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध मन वचन काय की क्रिया रूप योग से और

भवतः। वस्तुतस्तुकषाय (क्रोधादि) एव बंधकारणं तस्यैव कर्मस्थितिकर्मफलशक्तिहेतुत्वात्। कषायाभावे तु एकादशादि-गुणस्थानेषु कर्मबंधाभावात्। तत्र हि केवलं योगनिमित्तकं कर्मास्रवति न च तत्रात्मना सह कर्म तिष्ठति फलं वा किंचित् प्रददाति, अत एव स ईर्यापथ इत्युच्यते। प्रथमादिदशगुणस्थानेषु तु कषाय-सद्भावात् वास्तविको बंधः। अत एव स सापरायिक इत्युच्यते। संपरायः—कषायः अथवा संपरायः—संसारः, संपरायः—पराभवो वा तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्।

ननु तत्त्वार्थे मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानां बधहेतुत्वमुक्तं। द्रव्यसंग्रहादिषु च तेषां भावास्रवत्वम्। वस्तुतः एते

स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषाय से होता है। निश्चय से तो क्रोधादि कषाय ही बन्ध का कारण है क्योंकि वही कर्मों में स्थिति पड़ने और कर्मों में विचित्र शक्ति प्रदान करने का कारण है। कषाय के न रहने पर ग्यारहवें तथा उससे आगे के गुणस्थानों में बंध नही होता। इन गुणस्थानों में योग रहने के कारण कर्म आता तो है पर वह आत्मा के साथ बंध को प्राप्त नही होता और न कोई फल देता है। इसीलिये वह ईर्यापथ आश्रव कहलाता है। प्रथम से दशवें गुणस्थान तक तो कषाय के सद्भाव से वास्तविक बन्ध होता है और इसीलिए वह सांपरायिक कहलाता है। सम्पराय अर्थात् कषाय या संसार अथवा पराभव (तिरस्कार) है प्रयोजन जिसका उसे साम्परायिक कहते हैं।

शंका:—तत्त्वार्थ सूत्र मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध का कारण कहा है और द्रव्य संग्रहादि ग्रन्थो मे उनको भावाश्रव कहा है। वास्तव मे ये भावाश्रव है या बन्ध के कारण है ? इसके अलावा भी कहीं योग और

भावास्रवा. सन्ति बंधहेतवो वा । अपि च कुत्रचिद् योगकषाययोरेव बंधहेतुत्वं, कुत्रचित् मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां, कुत्रचिच्च पूर्वोक्तपचाना बंधहेतुत्वम् । एतत् सर्वं कथमितिचेदित्थं:—

आस्रवो हि बंधहेतुर्भवति । तस्य बंधपूर्वपर्यायत्वादिति भावास्रवाणां मिथ्यात्वादीना बंधहेतुत्ववचने कानुपपत्तिः ? भावास्रवा हि द्रव्यबन्धनिमित्तकारणानि, भावबंधस्य चोपादानकारणानि । यच्च बंधहेतुसंख्यानां विभिन्नत्वं तत्र तु केवलं विवक्षावैचित्र्यमेवकारणम् । बंधस्य हि चतस्रो विशेषता भवति पूर्वोक्ताः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाख्याः । तत्र प्रकृतिप्रदेशबंधयो' कारणं योगः, स्थित्यनुभागयोश्च कषाय इति संक्षेपतो द्वयमेवावश्यक बंधकारणम् । विस्तरतस्तु गुणस्थानक्रमापेक्षया पूर्वोक्त' चतुष्टय

कषाय को ही बंध का कारण कहा है तो कहीं मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग को, और कही पर पहले कहे गए पाचो को बन्ध का कारण बताया है यह सब कैसे सगत है ?

समाधान.—निश्चय से आश्रव ही बन्ध का कारण होता है । क्योंकि वह बन्ध की पूर्व पर्याय है । मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवो को बन्ध का कारण बताने मे कोई असंगति नही है । निश्चय से भावाश्रव द्रव्यबन्ध के निमित्त कारण होते हैं और भावबंध के उपादान कारण । और जो बन्ध के कारणो की संख्या मे विभिन्नता है उसमें तो एक मात्र कारण विचित्र वर्णन शैली ही है । बंध के पहले कहे गए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश नामक चार भेद है—उनमें प्रकृति और प्रदेश बंध का कारण योग है और स्थिति अनुभाग बन्ध का कषाय । इस तरह संक्षेप से कहने पर बन्ध के कारण दो ही उपयुक्त रहते है । और विस्तार की जहा विवक्षा होती है वहां गुणस्थानो की अपेक्षा से पहले कहे हुए चार या पांच कारण कहे

पच वा कारणानि भवंति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादाना वस्तुतः कषायस्यैव भेदत्वात् ।

सवरतत्त्वम्—पूर्वोक्तकर्मास्रवनिरोधे आत्मनो यः परिणामः कारणं भवति सः भावसंवरः । द्रव्यसंवरश्च तेषां कर्मास्रवाणा निरोधः । गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि भाव-संवरस्य भेदाः । एतेषां समवधाने मिथ्यात्वादिभावास्रवाणाम-भावात् । गुप्त्यादीनां सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात् मिथ्यात्वादीनां-प्रतिपक्षत्वम् । कस्मिन् गुणस्थाने कासां प्रकृतीनां संवरो भवतीति ग्रंथान्तराद् बोद्धव्यम् ।

निर्जरातत्त्वम्—पूर्वसञ्चितं कर्मपुद्गलद्रव्यं येनात्मपरिणामेन यथा कालं भुक्तरसं भूत्वा विशीर्यते सा भावनिर्जरा । एषा सवि-पाकभावनिर्जराऽपि प्रोच्यते । यत्तु कर्मपुद्गलद्रव्यं तपसा

गए है । मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद वास्तव में तो कषाय के ही भेद है।

संवर तत्त्व

आत्मा का जो चेतन परिणाम कर्मो के आश्रव को रोकने मे कारण है वह भाव संवर है और उन कर्मो का आते हुए रुक जाना द्रव्य सवर है । गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र भाव संवर के भेद है। इनके सद्भाव में मिथ्यात्व वगैरह भावाश्रवो का अभाव हो जाता है। गुप्ति वगैरह सम्यक्त्व स्वरूप है अत मिथ्यात्व वगैरह की विरोधी है। किस गुणस्थान मे किन प्रकृतियों का संवर होता है यह दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिए ।

निर्जरा–तत्त्व

आत्मा के जिस भावसे कर्मरूपी पुद्गल यथा समय फल देकर नष्ट होते है वह भाव निर्जरा है । यह सविपाक भाव निर्जरा

विशीर्यंते साऽविपाकभावनिर्जरा। तेषां कर्मपुद्गलानामात्मनो गलनञ्च द्रव्यनिर्जरा इति कथ्यते। यथैवागामिनां कर्मणां संवरो विपक्षस्तथैव सञ्चितानां विपक्षा निर्जरा भवति।

मोक्षतत्त्वम्—सर्वेषां कर्मणां क्षयहेतुर्यः आत्मनः परिणामः स भावमोक्षः। कर्मणामात्मनः पृथग्भवनं तु द्रव्यमोक्षः। कः सर्वकर्मक्षयहेतुरितिचेत्—व्यवहारनयात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणरत्नत्रयमेव मोक्षस्य कारणम्। निश्चयनयात्तु तत्त्रयमयो निजात्मैव। यत आत्मानं विहाय न कुत्राप्यन्यस्मिन् द्रव्ये रत्नत्रयं वर्तते ततः तत्त्रयमय आत्मैव मोक्षस्य हेतुरनुसंधेयः।

भी कहलाती है। और तप के द्वारा कर्म पुद्गल का झड़ना सो अविपाक भाव निर्जरा है। उन कर्म पुद्गलों का अपने आप झड़ना वह द्रव्य निर्जरा है। जिस प्रकार नए आने वाले कर्मों का संवर विरोधी है उसी तरह संचित कर्मों की विरोधी निर्जरा है।

मोक्ष—तत्त्व

आत्मा का जो चेतन परिणाम सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण है वह भावमोक्ष है और कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है। सब कर्मों के नाश का कारण क्या है तो उत्तर है:—व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है। निश्चय नय से तो रत्नत्रय स्वरूप निज आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मा को छोड़कर और किसी दूसरे द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, अतः रत्नत्रय रूप आत्मा ही मोक्ष का कारण स्वीकार किया जाना चाहिए।

ननु तत्त्वार्थश्रद्धानात् समुपलभ्यमानात्मेतरविवेकरूपं सम्यग्दर्शनं तु प्रतिपन्नं, किंतु सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रयोः स्वरूपं तु न निर्ज्ञातमिति तत्स्वरूपं प्रोच्यतामितिचेच्छृणु—

संशयविपर्ययानव्यवसायरहितं साकारमात्मपरस्वरूपस्य ग्रहणं सम्यग्ज्ञानं। सम्यक्चारित्रं तु अशुभाद् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिर्वा व्रतसमितिगुप्तिरूपा। एतच्च व्यवहारनयमाश्रित्य, निश्चयनयात्तु सम्यग्ज्ञानिनो बाह्याभ्यंतरक्रियानिरोधसमुत्पन्नात्मशुद्धिविशेष सम्यक्चारित्रं कथ्यते। बाह्यक्रिया हि हिंसादिपञ्चपापानि, अभ्यन्तरक्रिया च योगकषायौ। मनोवाक्कायनिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। कषायस्तु क्रोधमानमायालोभात्मिका आत्मनो विभावपरिणतिः।

शका:-तत्त्वों के स्वरूप के श्रद्धान से उत्पन्न निज परके भेद ज्ञान रूप सम्यग्दर्शन को तो समझ लिया, लेकिन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप तो जाना नहीं। अतः दोनो का स्वरूप कहिए।

उत्तर:—सुनिए। आत्मा और पर का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित विशेष ग्रहण होना–ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। और सम्यक्चारित्र अशुभ कार्यों अर्थात् पंच पापों से कषायों से दूर हटकर शुभ कार्य अर्थात् व्रत समिति गुप्ति रूप प्रवृत्ति करना है। यह व्यवहार नय के आश्रय से कथन है। निश्चय नय की अपेक्षा तो सम्यग्ज्ञानी जीव के बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं के रोकने से जो आत्मा की विशेष निर्मलता होती है वह सम्यक्चारित्र है। बाह्य क्रिया निश्चय से हिंसादि पांच पाप रूप है और अभ्यन्तर क्रिया योग और कषाय रूप है। मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना अर्थात् आत्म प्रदेशो में अस्थिरता होना योग है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप आत्मा की विभाव परिणति को कषाय कहते हैं।

ननु कर्मणामात्यंतिकक्षय: कथं संभवतीतिचेदित्थं—कर्मणां विपक्षस्य रत्नत्रयस्य परमप्रकर्षात् तेषामात्यंतिक: क्षय: स्यादिति। यस्य हि तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित् परमप्रकर्ष: सिद्ध्यति, यथोष्णस्य। तारतम्यप्रकर्षश्च कर्मणां विपक्षस्य संवरनिर्जरालक्षणस्यासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानेषु प्रमाणतो निश्चीयते तस्मात् परमात्मनि तस्य परम: प्रकर्ष: सिद्ध्यतीति ज्ञायते। दुःखादिप्रकर्षेण व्यभिचार: इति चेन्न, दु:खस्य सप्तमनरकभूमौ नारकाणां परमप्रकर्षसिद्धे:, सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत्। न च क्रोधमानमायालोभानां तारतम्येन व्यभिचारसंभावना। तेषामभव्येषु मिथ्यादृष्टिषु च परमप्रकर्षसिद्धे:। ज्ञानहानिप्रकर्षेणानेकान्त इति न वक्तव्य। तस्यापि

शंका:—कर्मों का सर्वथा क्षय कैसे संभव है ?

समाधान:—सर्वथा क्षय इस प्रकार होता है। कर्मों के विरोधी रत्नत्रय रूप भावों का जब तीव्रतम उत्कर्ष होता है तो उन कर्मों का समूल क्षय हो जाता है। निश्चय से जिसका प्रकर्ष घटता बढ़ता है उसका कहीं न कहीं परम प्रकर्ष सिद्ध होता है जैसे गरमी का। संवर निर्जरा लक्षण रूप कर्मों के विरोधी रत्नत्रय का तरतम रूप प्रकर्ष असयत सम्यग्दृष्टि वगैरह गुणस्थानो मे प्रमाण से निश्चित होता है; इसलिए परमात्मा मे उस रत्नत्रय का परम प्रकर्ष सिद्ध होता है। दु:ख वगैरह के प्रकर्ष से व्यभिचार होगा, ऐसा नही है। दु:ख का भी सातवें नरक में नारकियों के परम प्रकर्ष सिद्ध है जिस तरह सांसारिक सुख का परम प्रकर्ष सर्वार्थसिद्धि में देवों के होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ के तारतम्य से भी व्यभिचार दोष की संभावना नहीं है—उनका भी अभव्यों तथा मिथ्यादृष्टियों में परम प्रकर्ष सिद्ध है। ज्ञान की हानि के प्रकर्ष से अनेकान्त होजायगा ऐसा भी नहीं करना चाहिए। घटेहुए उस

क्षायोपशमिकस्य हीनमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमप्रकर्षसिद्धेः। क्षायिकस्य तु हानेरेवानुपलब्धे. कुत परमप्रकर्षो येन व्यभिचारसंभावनाऽपि स्यात्।

ननु किंस्वरूपाणि कर्माणि, येषा क्षयान्मोक्षः स्यादितिचेत्—जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति, स परतत्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामै क्रियन्त इति कर्माणि। तानि द्रव्यभावविकल्पेन द्वेधा। तत्र द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ मूलप्रकृतिभेदात्। उत्तरप्रकृतिभेदात्तु अष्टचत्वारिंशदुत्तरशतम्। ततोऽप्यधिकान्युत्तरोत्तरप्रकृतिभेदात्। एतानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवत्। न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः तेषां जीवपरिणामाना पारतंत्र्यस्वरूप-

---

उस क्षायोपशमिक ज्ञान के भी वृद्धिगत होते हुए केवलज्ञान मे उसका परम प्रकर्ष सिद्ध है ही। क्षायिक ज्ञान की तो जब हानि ही नही होती तो परम प्रकर्ष भी कैसे हो सकता है कि जिससे व्यभिचार की सभावना हो।

यह पूछे कि कर्मों का क्या स्वरूप है जिनके क्षयसे मोक्ष होता है तो उत्तर है कि जो जीवको पराधीन करते है, या जीव जिनके द्वारा पराधीन किया जाता है उन्हे कर्म कहते है, अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि रूप भावो से जो किए जाते है वे कर्म हैं। वे कर्म द्रव्य और भाव भेद से २ प्रकार है। उनमे द्रव्य कर्म ज्ञानावरण वगैरह मुल प्रकृति रूप से आठ प्रकार का है और उत्तर प्रकृति के भेद से एक सो अड़तालीस प्रकार का है। उत्तर प्रकृतियो के भी अवान्तर भेद किए जाय तो और भी अधिक भेद हो सकते है। ये सव प्रकृतिया पुद्गल पर्याय रूप है, क्योकि ये जीव की पराधीनता की कारण है-वेडी वगैरह की तरह। इसमे क्रोध वगैरह से व्यभिचार नही

पारतन्त्र्य हि जीवस्य क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतंत्र्यतं। न च नामगोत्रसद्वेद्यायुषामात्मस्वरूपघातित्वाभावात्पारतंत्र्यनिमित्तत्वासिद्धिरिति वाच्यं तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्वप्रतिबंधित्वात् पारतंत्र्यनिमित्तत्वोपपत्तेः। तथा सति कथं तेषामघातिकर्मत्वमितिचेज्जीवन्मुक्तिलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघातित्वाभावादिति।

भावकर्माणि पुनश्चैतन्यपरिणात्मकानि। क्रोधादिभावकर्मणामौदयिकत्वेऽपि कथंचिदात्मनोऽभिन्नत्वात् चैतन्यरूपत्वाविरोधात्। ज्ञानरूपत्व तु तेषां विप्रतिषिद्धं ज्ञानस्यौदयिकत्वाभावात्।

आता; क्योकि ये क्रोधादि जीव के परिणाम परतन्त्रता स्वरूप हैं। निश्चय से जीव के क्रोधादि परिणाम परतन्त्र रूप है—परतन्त्रता के कारण नही। नाम, गोत्र, सातावेदनीय तथा आयु कर्म के आत्मा के स्वरूप का घात न करने से वे परतंत्रता के निमित्त नही है—ऐसा भी कहना ठीक नही। वे भी जीव के सिद्धत्व स्वरूप के बाधक है, अत परतन्त्रता मे निमित्त है ही। यदि ऐसा है तो वे अघाति कर्म कैसे कहलाते है तो उत्तर है कि वे जीवन्मुक्ति है लक्षण जिसका ऐसी परमोत्कृष्ट अर्हन्त सम्बन्धी—लक्ष्मी का घात नहीं करते, अतः अघाती कहाते है।

आत्मा के चैतन्य परिणामो को भाव कर्म कहते है। क्रोधादि भाव कर्मो के औदयिक होने पर भी आत्मा से कथंचित् अभिन्न होने के कारण उन्हे चैतन्य परिणाम कहने में कोई विरोध नही आता। उन्हें ज्ञान रूप कहना अवश्य विरोध को प्राप्त होता है; क्योंकि ज्ञान औदयिक नही होता।

कर्मणां सक्षयस्तु जीवात् पृथग् भवनमेव, नतु तेषां विनाश ; सतो विनाशासंभवात् ।"नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो,दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इत्यभिधानादिति ।

नानाशास्त्राश्रयं प्राप्य, सप्ततत्त्वविवेचनम् ।
स्वावबोधप्रसिद्ध्यर्थं, संक्षेपात् कृतमत्र वै ।।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

कर्मों का क्षय होने का अर्थ कर्मों का जीव से अलग होना ही है न कि नाश होना, क्योंकि सत् का विनाश कभी नहीं होता। "असत् का कभी जन्म नही होता और सत् का कभी नाश नही होता, प्रकाश और अन्धेरा पुद्गल की पर्याय रूप ही है" ऐसा कथन है ।

"अनेक शास्त्रो का सहारा लेकर सात तत्त्वों का यह विवेचन अपने ज्ञान को प्रकट करने हेतु इस ग्रन्थ में संक्षेप में किया गया है ।

द्वितीयोऽध्यायः

आत्मनश्चरमपुरुषार्थसिद्धिर्हि जैनदर्शनस्य प्रयोजनमितिपूर्वमुक्तं। तत्सिद्धिश्चात्मेतरविवेकसाध्या। आत्मेतरविवेकस्तु तल्लक्षणप्रमाणनयनिक्षेपैर्विना न कदाचिदपि संभवति। अत पदार्थावबोधहेतूनामेतेषां चतुर्णां विवेचनमावश्यकं। अतः सर्वतः प्रथममत्र लक्षणस्वरूपं प्रतिपाद्यते।

लक्षणस्वरूपम्

वस्तुव्यावृत्तिज्ञानहेतुर्लक्षणं, तद्द्विविधमात्मभूतमनात्मभूत च। यद् वस्तुस्वरूपात्मकं तदात्मभूतं, यथाऽग्नेरुष्णत्व,आत्मनश्चेतनत्वं, पुद्गलस्य रूपरसगधस्पर्शवत्वमित्यादि। उष्णत्व हि

आत्मा को मोक्ष पुरुपार्थ की प्राप्ति हो—यही जैन दर्शन का अभिमत है—ऐसा पहले कहा है। मोक्ष की प्राप्ति स्व और पर के विवेक द्वारा संभव है। स्व और पर का विवेक तो उनके लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप के विना कभी संभव नही है। इसीलिए पदार्थों के ज्ञान के कारण इन चारो का कथन करना जरूरी है। इसलिए सबसे पहले यहां लक्षण का स्वरूप कहा जाता है।

लक्षण का स्वरूप

बहुत सी मिली हुई वस्तुओ मे से एक वस्तु को अलग जताने का जो कारण है वह लक्षण है। वह लक्षण आत्म-भूत, अनात्म-भूत से दो प्रकार का है। जो वस्तु के स्वरूप में मिला हो वह आत्मभूत लक्षण है, जैसे अग्नि का लक्षण

अग्ने: स्वरूपं, तदग्नि जलादिभ्यो व्यावर्तयति। तथैव चेतनत्वमात्मानमात्मेतरेभ्य: रूपादयश्च पुद्गलं पुद्गलेतरेभ्य। यद् वस्तुस्वरूपात्मकत्वाभावेऽपीतरव्यावृत्तिज्ञानहेतु: तदनात्मभूतं यथा दण्ड पुरुपस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्ड: पुरुषात्मकत्वाभावेऽपि दण्डिन दण्डीतरेभ्यो व्यावर्तयति। तथा चोक्तं "तथात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूत देवदत्तस्य दण्ड इति।"

यल्लक्षण न भवति किन्तु लक्षणवदाभासते तल्लक्षणाभासं। तत् त्रिविधमव्याप्तमतिव्याप्तमसभवि चेति। ईषद्व्याप्तमित्यव्याप्तं अत्रेपदर्थस्य नञ:प्रयोगात् यथानुदरा कन्या। अव्याप्तं हि लक्ष्यैक देशवृत्ति। निखिलेषु लक्ष्येपु तस्य वृत्तेरभावात्, यथा गो शाव-

---

उष्णता, आत्मा का लक्षण चैतन्य, पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध, स्पर्शमयता। उष्णता अग्नि का स्वरूप है वह अग्नि को जल वगैरह से अलग कराता है। उसी तरह चैतन्य आत्मा को आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यो से तथा रूपादि पुद्गल को पुद्गल के अलावा और द्रव्यों से अलग कराता है। जो वस्तु का स्वरूप तो नही होता पर दूसरों से भिन्न जताने का कारण होता है वह अनात्मभूत है यथा पुरुष का लक्षण दण्ड। दण्डे वाला ऐसा कहने पर निश्चय से दण्डा पुरुप का स्वभाव नही है तो भी उस दण्डी को, नही दण्डे वालो से अलग करता है। ऐसा ही कहा है "अग्नि का उष्णत्व आत्मभूत लक्षण है तथा देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण है।"

जो लक्षण तो नही है किन्तु लक्षण जैसा दिखता है वह लक्षणाभास कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असभव। थोडे मे रहे उसे अव्याप्त कहते हैं। यहां ईषत् (थोड़ा) अर्थ मे नञ् का प्रयोग है जैसे अनुदरा कन्या। निश्चय से लक्ष्य के एक देश मे रहना ही अव्याप्त है। वह पूरे लक्ष्य मे नही रहता, जैसे गाय का लक्षण सांवलापन।

लेयत्वं । शायलेयत्वं हि वर्णविशेपो न सर्वेपु गोपु वर्तते । लक्ष्य-वृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तं, यथा गो. पशुत्वं । लक्ष्यमति-क्रम्य व्याप्तमित्यतिव्याप्तं, महिषादीनामपि पशुत्वात् । लक्ष्यवृत्ति-त्वाऽसंभवित्वमसंभवि, यथा नरस्य विपाणित्व । विषाणित्वं हि नैकस्मिन्नपि नरि वर्तते तस्मादसभवित्वमस्य । इमे त्रयो लक्षणा-भासभेदा । अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसभवास्तु न लक्षणाभासभेदा अपितु लक्षणदोषा, एतेपां भाववाचकत्वात्, पूर्वेपां तु विशेपण-त्वात् । अयञ्च केवल शब्दभेदोऽर्थस्तु न भिद्यते ।

प्रमाणसामान्यस्वरूपम्

प्रमाण सम्यग्ज्ञानं । तत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं प्रमाण-त्वात् । यज्ज्ञान स्वमपूर्वमर्थञ्च निश्चयात्मकरूपेण विजानाति

सावलापन रग विशेष है—वह सब गायों में नही रहता । जो लक्ष्य में भी रहे और अलक्ष्य मे भी रहे वह अतिव्याप्त कहलाता है, जैसे गाय का लक्षण पशुपना । लक्ष्य का उल्लंघन करके ही रहे उसे अतिव्याप्त कहते है, भैस वगैरह के भी पशु होने से । लक्ष्य मे रहे ही नहीं उसे असंभवी कहते है, जैसे मनुष्य का लक्षण सीगवान होना । सीगवान होना यह एक भी पुरुष मे नही रहता, इसलिए यह असंभवी है । ये तीन लक्षणाभास के भेद हैं । शका—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव तो लक्षणाभास के भेद नही है बल्कि लक्षण के दोष है, इनके भाव वाचक होने से, और पहले वालों के विशेषण होने से । समाधान—यह केवल शब्द भेद है अर्थ में कोई भेद नही है ।

प्रमाण का सामान्य स्वरूप

सम्यक्ज्ञान को प्रमाण कहते है । वह ज्ञान स्व और अपूर्व पदार्थ का निश्चयात्मक होता है प्रमाण होने से । जो ज्ञान

तद्धि प्रमाणं भवति। प्रमितिक्रियां प्रति तस्यैव करणत्वात्। प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येनेति-व्युत्पत्तेः। प्रमितिक्रिया हि अज्ञाननाशात्मिका। अज्ञानं तु ज्ञान-मन्तरेण न विनाशयितुं शक्यते, ततस्तस्यैव तत्र करणत्वोचित-त्वात्। यथांधकारनाशने प्रदीपो हेतुस्तस्य तद्विरोधित्वात्, तथाऽ-ज्ञाननिरासे ज्ञानं। तथाचाज्ञानरूपः सन्निकर्षः, जडानींद्रियाणि, अन्ये च प्रमितेः परम्पराहेतवो न प्रमाणानि, तेषां तत्साक्षाद्धेतु-त्वाभावात्। साधकविशेषस्य अतिशयवतः करणत्वात्। साधक-तम करणमिति जैनेंद्रव्याकरणे प्रोक्तत्वात्।

अपने आपको और अग्रहीत पदार्थ को निश्चित रूप से जानता है वह नियम से प्रमाण होता है। जानने रूप क्रिया के प्रति वह ज्ञान ही करण होता है। प्रकर्ष रूप से अर्थात् संशयादि दोषो से रहित वस्तु का स्वरूप जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है। प्रमाण की यह व्युत्पत्ति है। वास्तव में जानने रूप क्रिया अज्ञान की नाशक है। अज्ञान ज्ञान के बिना कभी नाश को प्राप्त नही हो सकता, इसलिए ज्ञान को ही करण मानना उचित है। जैसे अधकार का नाश करने मे प्रदीप कारण है क्योकि वही अधकार का विरोधी है, उसी तरह अज्ञान का नाश करने मे ज्ञान कारण है। इस तरह अज्ञान रूप सन्निकर्ष, जड़ इन्द्रियां तथा और भी जो जानने के परम्परा कारण है वे प्रमाण नही है, क्योकि वे ज्ञान के साक्षात् कारण नही है। करण वही हो सकता है जो अतिशय रूप से यथार्थ ज्ञान का साधक हो। जो उत्कृष्ट साधक हो वही करण होता है अर्थात् प्रमा नाम वस्तु के यथार्थ ज्ञान का है उसकी उत्पत्ति मे जो विशिष्ट कारण होता है वह करण कहलाता है। ऐसा जैनेन्द्र व्याकरण मे कहा है।

ननु चक्षुषा प्रमिणोमि, धूमेनानुमिनोमि, शब्देन विजानामि, गवोपमिनोमीत्यादौ ज्ञानातिरिक्तानामपि प्रमितिकरणत्वं दृश्यते, तथा च तेषामपि प्रमाणत्वाभ्युपगमे को दोषः इति चेन्न, तेषा प्रमितौ ज्ञानेन व्यवहितत्वात् । औपचारिका हीमे प्रयोगाः अन्नं वै प्राणा॰, धन वै प्राणाः, आयुर्वैघृतमित्यादिवत् । चक्षुरादयो हि तत्र सहकारिण न तु प्रमाणानि, तत॰ प्रमितिक्रिया प्रति तेषा साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वं । तदुक्तं प्रमाणनिर्णये "इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत् प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्" ।

चक्षुरादयो ह्यचेतना न ते स्वावभासनसमर्था । ततः कथं तेषा परावभासकत्वं स्यात् । ततोऽस्वसंविदिताना स्वावभासनेऽ

शका —आख से देखता हूँ, धूम से अनुमान करता हूं, शब्द से जानता हू, इन्द्रिय से प्रमाणित करता हू–इत्यादि वाक्यो में ज्ञान के अलावा और भी जानने रूप क्रिया के करण देखे जाते हैं, अत उन्हे भी प्रमाण मान लेने में क्या आपत्ति है ?

समाधान:—ऐसा नही है, जानने रूप क्रिया मे उनके ज्ञान से वाधा आती है । अन्न ही प्राण है, धन ही प्राण है, घृत ही आयु है–इत्यादि की तरह आंख से देखना वगैरह प्रयोग उपचार से है । प्रमिति रूप क्रिया मे चक्षु वगैरह सहकारी कारण जरूर है पर प्रमाण नही, इसलिये प्रमिति रूप क्रिया के प्रति चक्षु वगैरह को साधकतम न होने से प्रमाणता नही है । प्रमाण निर्णय मे ऐसा ही कहा है वही सच्चा प्रमाण है जो जानने रूप क्रिया के प्रति साधकतम करण हो ।

वस्तुतः चक्षु वगैरह अचेतन है, वे अपने स्वरूप को जानने मे समर्थ नही, फिर वे दूसरों का ज्ञान कैसे करा सकेंगे ? इसलिए अपने आप को नही जानने वाले और अपना ज्ञान कराने मे असमर्थ उन चक्षु वगैरह को दूसरो का ज्ञान कराना

शक्तानां तेषां परावभासकत्वायोगः। ज्ञानं तु स्वपरावभासकं स्वानुभवसिद्धं। तथा च स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पकम-गृहीतग्राहकं सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे निवर्तयत् प्रमाणमिति। यत्तु स्वासंवेदकं निर्विकल्पकं गृहीतग्राहकमज्ञानरूपञ्च न तत् कथंचिद् प्रमाणं, तथा चोक्तं न्यायसूत्रकारेण माणिक्यनंदिना— "अस्वसंविदितगृहीतार्थ-दर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः"। अत्रा-दिपदेन विपर्ययानध्यवसाययोऽपि ग्रहणम्।

संशयो हि प्रमाणासिद्धानेककोटिस्पर्शात्मकः प्रत्ययः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। अस्ति च नास्ति च घटः नित्यश्चानित्य-श्चात्मेत्यादौ अनेककोटिस्पर्शात्मकप्रत्ययत्वे सत्यपि प्रमाणसिद्ध-

---

संभव नही। ज्ञान तो अपना और पर का ज्ञान कराने वाला है यह अपने अपने अनुभव से सिद्ध है। इसलिए स्व तथा पर के जनाने में समर्थ, सविकल्पक रूप से अपूर्व पदार्थ को जानने वाला सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि वही पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान को दूर करता है। और जो अपने को नही जानने वाला, निर्विकल्पक, गृहीत पदार्थ को ग्रहण करने वाला और अज्ञान रूप है-वह किसी भी तरह प्रमाण नही है। ऐसा ही न्याय सूत्रके रचयिता माणिक्य नंदी ने कहा है—अपने आपको नही जानने वाले, गृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाले सशय वगैरह प्रमाणाभास है। यहा आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का भी ग्रहण है।

प्रमाण विरुद्ध अनेक कोटि स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं, जैसे अन्धकार मे यह ठूँठ है या पुरुष है। घड़ा है भी और नही भी, आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी इत्यादि वाक्यो मे अनेक कोटि स्पर्शात्मक ज्ञान होने पर भी प्रमाण सिद्ध होने से संशय नही है। जो वस्तु जैसी नही है उसमे वैसा

स्वान्न संशय । तद्भिन्ने वस्तुनि तत्प्रत्ययो विपर्ययः यथा शुक्तिकायां रजतमितिज्ञानं, अनात्मन्यात्मेतिज्ञानं वा । वस्त्वनुल्लेखी किमित्यालोचनमात्रप्रत्ययोऽनध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् ।

स्वतस्त्व-परतस्त्व-वादः

अथैतादृशलक्षणप्रमाणस्य यत् प्रामाण्यं तस्य कथमुत्पत्तिः स्वत. परतो वा ? प्रामाण्योत्पत्तिः परत एव विशिष्टकार्यस्य विशिष्टकारणप्रभवत्वात् । ज्ञान हि सामान्यं सम्यङ् मिथ्याज्ञानयोरुभयोरपि ज्ञानत्वात् । सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं तु तस्य विशेषः । अत· ज्ञानसामान्यस्य यान्युत्पत्तिकारणानि न तानि एव केवलं

ज्ञान होना विपर्यय कहा जाता है—जैसे सीप मे चादी का ज्ञान होना, पुद्गल में आत्मा का ज्ञान होना । वस्तु का नाम न बताते हुए कुछ है केवल इतना जानने को अनध्यवसाय जानना चाहिए जैसे मार्ग में गमन करते हुये तृण आदि के स्पर्श का ज्ञान होना ।

स्वतस्त्व परतस्त्व वाद

अब सम्यग्ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसे प्रमाण की जो प्रमाणता (प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप मे जानता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना यानी प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना) है । उसकी उत्पत्ति अपने-से होती है या पर से ? प्रामाण्य की उत्पत्ति पर से ही होनी है क्योकि, विशेष कार्य विशेष कारणो से ही पैदा होता है । वास्तव में ज्ञान तो सामान्य है क्योकि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों ही ज्ञान रूप हैं । सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान तो ज्ञान की विशेषता है । इसलिए ज्ञान सामान्य के जो उत्पत्ति के कारण है वे ही सिर्फ विशेष ज्ञान के नही हो सकते । सम्यग्ज्ञान प्रमाण है—मिथ्या-

तद्विशेषस्य । प्रमाणाप्रमाणरूपयो तद्विशेषयोः सम्यङ् मिथ्या-ज्ञानयोः भिन्नकारणप्रभवत्वात् । ज्ञानसामान्यस्य कारणानि तु प्रत्यक्षस्येंद्रियादीनि, अनुमानस्य लिङ्गादि, शाब्दस्य शब्दादि । प्रमाणात्मकप्रत्यक्षस्य तु न केवलमिन्द्रियाणि; किंतु तत्स्थाः नैर्मल्यादयो गुणा । तथैव प्रमाणभूतस्यानुमानस्य न परं लिङ्गं, किंतु लिङ्गस्याविनाभावः । एवं प्रमाणात्मकशाब्द-ज्ञानस्य शब्द एव केवलो न कारणमपि तु आप्तोक्तत्वरूपो गुण । तथैव मिथ्याज्ञानरूपस्याप्रामाण्यस्य हेतवो दोषाः । तथा च यथाऽप्रामाण्य परत उत्पद्यते तथा प्रामाण्यमपि । न खलु पट-सामान्यसामग्री रक्तपटे हेतुस्तथा न ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाण-ज्ञाने हेतु. । तथा च प्रामाण्य विज्ञानकारणातिरिक्तकारण-

---

ज्ञान अप्रमाण है, अत दोनो की उत्पत्ति के कारण भी भिन्न ही हैं । ज्ञान सामान्य के कारण तो प्रत्यक्ष के तो इन्द्रिय वगैरह है अनुमान के लिंग वगैरह है और आगम के शब्द वगैरह है । लेकिन प्रमाण रूप प्रत्यक्ष के तो सिर्फ इन्द्रियां वगैरह नही, किन्तु उसमे रहने वाले निर्मलता आदि गुण है । इसी तरह प्रमाण रूप अनुमान का दूसरा हेतु नही अपितु हेतु का अविना-भावी होना है । इसी तरह प्रमाण रूप आगम ज्ञान का केवल शब्द ही कारण नही बल्कि आप्त के द्वारा कहा हुआ रूप गुण है । उसी प्रकार मिथ्याज्ञान रूप अप्रामाण्य का कारण दोष है । इसलिए जिस प्रकार अप्रामाण्य पर से उत्पन्न होता है उसी तरह प्रामाण्य भी । वास्तव मे कपड़े की सामान्य सामग्री द्वारा लाल कपड़े का निर्माण नहीं हो सकता, वैसे ही ज्ञान सामान्य रूप सामग्री प्रमाण ज्ञान का कारण नही है । जैसे कि–प्रामाण्य विज्ञान रूप कारण के अलावा कारण से पैदा होता है भिन्न

जन्यं तद्भिन्नकार्यत्वात् अप्रामाण्यवत्। अथवा ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वात् घटवस्त्रवत् । ततः स्थितं प्रामाण्यं परापेक्षमेवोत्पत्तौ।

कथं तस्य ज्ञप्तिरितिचेत् अभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्ते तु परत । परिचितस्वग्रामतडागजलादिरभ्यस्तः । तदितरोऽनभ्यस्तः: । अभ्यस्तविषये प्रामाण्यनिश्चयो न परापेक्षः, न हि तत्र प्रेक्षावतां निर्णयाकांक्षणं । तत्र हि जलज्ञानानन्तरं स्वत एव प्रवृत्तिप्राप्तिप्रतीतेः।

अनभ्यस्तविषये तु प्रामाण्यनिश्चय· परापेक्ष एव । तस्य हि तदेकविषयात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा, अर्थक्रियानिर्भासाद्वा,

---

कार्य होने से अप्रामाण्य की तरह । अथवा ज्ञान और भिन्न-भिन्न कारणों से पैदा होने वाले हैं भिन्न-भिन्न कार्य होने से, घर और वस्त्र की तरह । इसलिए सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रखता ही है अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति पर से ही होती है ।

प्रामाण्य की ज्ञप्ति (जानना) कैसे होती है ? ऐसा पूछने पर उत्तर है कि ज्ञप्ति अभ्यास दशा मे स्वत. और अनभ्यास दशा में ज्ञानान्तर से यानी परत. हुआ करती है। अपने गाव के तालाव के जल का परिचय होने से वह अभ्यस्त कहलाता है किन्तु अपरिचित जल अनभ्यस्त होता है। अभ्यस्त विपय में प्रामाण्य का निश्चय दूसरे की अपेक्षा नही रखता-निश्चय से वहा देखने वालो के निर्णय की अपेक्षा नही होती। वहा तो जलज्ञान के बाद अपने आप ही प्रवृति, प्राप्ति और प्रतीति हो जाती है।

लेकिन अनभ्यस्त पदार्थ मे प्रामाण्य का निश्चय परत ही होता है। निश्चय पूर्वक जो भी अपरिचित पदार्थ है उस पदार्थ सम्बन्धी तर्क वितर्क से, अर्थ क्रिया के प्रतिभासित होने से और

अविनाभूतार्थदर्शनाद्वा प्रामाण्यं निश्चीयते। तेषां च स्वतः प्रामाण्यनिश्चयान्नानवस्थावकाश । एतच्च सर्वं प्रत्यक्षविषये। अनुमाने तु सर्वस्मिन्नपि स्वत एव प्रामाण्यमव्यभिचारलिङ्ग-समुत्थत्वात्। शाब्दे तु प्रमाणे दृष्टार्थेऽर्थाव्यभिचारस्य दर्शनात् सवादाद्यधीनः परत प्रामाण्यनिश्चयः। अदृष्टार्थे तु सवाद-मन्तरेणापि आप्तोक्तत्वादेव प्रामाण्यनिश्चय. इति। तत प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिः कथंचित् स्वतः कथचित् परत इति श्रद्धातव्यमिति।

प्रमाणविशेषप्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रमाणसामान्यस्वरूपमभिधाय तद्विशेषस्वरूपविवेचनमधुना प्रारभ्यते। तत् प्रमाण द्विविध, प्रत्यक्ष परोक्ष च। तत्रविशद-

---

उस पदार्थ से अविनाभावी पदार्थ के देखने रूप ज्ञानान्तर से ही उसके प्रामाण्य का निश्चय होता है। और उन ज्ञानान्तरो के स्वत प्रमाण होने से अनवस्था दोष का प्रसंग नहीं आता। यह सम्पूर्ण कथन तो प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में हुआ। सम्पूर्ण अनुमानो मे तो प्रामाण्य का निश्चय स्वत होता है क्योकि वे अव्यभिचारी हेतु से पैदा होते है। और आगम प्रमाण मे तो जो पदार्थ दृष्टिगोचर है वे उसी रूप दिखाई पड़ने से तथा तर्क वितर्क के आधीन होने से उनके प्रामाण्य का निश्चय परत होता है। और जो पदार्थ अदृष्ट है उनमें तो तर्क वितर्क की अपेक्षा के विना ही सच्चे देव के द्वारा कहे जाने से ही प्रामाण्य का निश्चय होना है। इसलिए प्रामाण्य का ज्ञान कथंचित् स्वत और कथंचित् परत होता है—ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष का स्वरूप

प्रमाण सामान्य का स्वरूप कहकर अब प्रमाण विशेष का स्वरूप विवेचन किया जाता है। वह प्रमाण दो प्रकार है,

ज्ञानात्मक प्रत्यक्षं । अग्निरस्तीति आप्तवचनात्, धूमादिलिङ्गा-च्चोत्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरिति प्रत्यक्षस्य नैर्मल्य स्यानुभव-सिद्धम् । यस्मिन् ज्ञाने ज्ञानातरस्य व्यवधान न भवति, विशेष-वत्तया प्रतिभासनं च भवति तत् प्रत्यक्षमित्यर्थः । तत् द्विविध साव्यवहारिक पारमार्थिकं च । यज्ज्ञान देशतो विशदमीषन्निर्मल तत् साव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । समीचीनो व्यवहार' संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्य, तत् साव्यवहारिकमैन्द्रियकप्रत्यक्षमित्यर्थ' । तस्यावग्रहेहाऽवायधारणा इति चत्वारो भेदाः । तत्र विपय-विषयिसन्निपातसमयानंतरमाद्यग्रहणमवग्रह', यथा चक्षुपा शुक्लं रूपमिति ग्रहणम् । अवग्रहगृहीतेऽर्थेतद्विशेषाकांक्षणमीहा यथा शुक्लं रूप वलाका भवेत् । विशेषनिदर्शनाद् याथात्म्या-

---

प्रत्यक्ष और परोक्ष । वहां विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है । अग्नि है– ऐसे आप्त मनुष्य के कहने से और धूम वगैरह हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान ज्ञान से यह अग्नि है, इस तरह प्रत्यक्ष की निर्मलता अपने अनुभव से सिद्ध है । जिस ज्ञान में दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, और विशेष रूप से प्रतिभास होता है वह प्रत्यक्ष है । वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, साव्यवहारिक और पारमार्थिक । जो ज्ञान एक देश निर्मल होता है या थोड़ा निर्मल होता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । उत्तम व्यवहार को सव्यवहार कहते है और वह है प्रयोजन जिसका उसे सांव्य-वहारिक या इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते है । उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद हैं । वहा पदार्थ और इन्द्रिय के योग्य देश मे स्थित होने के समय के बाद जो पहला ज्ञान होता है वह अवग्रह होता है, जैसे आंख से सफेद रंग का ज्ञान होना । अवग्रह के द्वारा जाने हुये पदार्थ के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं, जैसे सफेद रग की बगुलों की पक्ति होनी चाहिए । विशेष चिन्हों से निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते है, जैसे ऊंचे उठने, नीचे गिरने, पंखों के फ़डफडाने आदि

वगमनमवाय:, यथा–उत्पतननिपतनपक्षविक्षेपादिभिर्वलाकैवेयं न पताकेति। अवेतस्य कालांतरेऽविस्मरणकारणं धारणा, यथा सैवेयं वलाका पूर्वाह्ने यामहमद्राक्षमिति।

एतदवग्रहादिज्ञानचतुष्टयस्य निदर्शनान्तरमपीद स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञातव्यम्–यथायं पुरुष इति अवग्रह, ततः पुरुष इति निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य उतोदीच्य इति संशये सति दाक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायते। पुन. भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद् दाक्षिणात्य एवाऽयमिति अवायः, एतदेव स्मृतिजननसमर्थं ज्ञानं धारणा प्रोच्यते यद्वशात् स दाक्षिणात्य इत्येव स्मरणं जायते।

से यह वगुलों की पक्ति ही है ध्वजा नही। अवाय के द्वारा जाने हुये को कालान्तर मे न भूलने के कारण को धारणा कहते हैं, जैसे यह वही वगुलों की पक्ति है जिसको मैने कल देखा था।

इन अवग्रहादि चारो ज्ञानो के उदाहरण कह देने पर भी और स्पष्ट ज्ञान करने के लिए उदाहरण है– जैसे यह पुरुष है यह अवग्रह है। उसके बाद यह पुरुष है इस निश्चित पदार्थ मे यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी, ऐसा संशय होने पर यह दक्षिणी होना चाहिए। संशय का निराकरण करने के लिये ईहा नामक ज्ञान पैदा होता है। फिर बोलचाल वेशभूपा वगैरह चिन्हो से यह दक्षिणी ही है–यह अवाय ज्ञान होता है। यही अवाय जब कालान्तर में स्मृति का उत्पादन करने में समर्थ होता है तो धारणा ज्ञान कहा जाता है जिसकी वजह से वह दक्षिणी ऐसा स्मरण होता है।

ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतविपयग्राहकत्वादेतेषा धारावाहिकवद-प्रामाण्यप्रसग इति चेन्न विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात् एतदव-ग्रहादिचतुष्टय यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते। यदा पुनरनिन्द्रियेण (मनसा) तदाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षमभिधीयते।

इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि, अतीन्द्रिय तु मन तद्द्वयहेतुकमिद लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात् साव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्युच्यते। तदुक्त "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त देशतः साव्यवहारिक"। इद चामुख्यप्रत्यक्षमुपचारसिद्धत्वात् वस्तुतस्तु परोक्षमेव, इन्द्रियजन्यत्वेन मतिज्ञानत्वात्।

ननु प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वमेव कथं, अर्थालोक-

---

शंका—अवग्रहादि ज्ञान पहले पहले ज्ञान के द्वारा गृहीत पदार्थ को ग्रहण करते है अत धारावाहिक ज्ञान की तरह ये भी अप्रमाण है।

समाधान—ऐसा नही है। भिन्न विपय होने से ये गृहीत ग्राही नही अपितु अग्रहीत-ग्राही ही है। ये अवग्रहादि चारो जव इन्द्रिय से पैदा होते है तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाते है। और जब मन से पैदा होते है तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहे जाते है।

इन्द्रिया स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण है और अनिन्द्रिय मन है, इन दोनो के निमित्त से लोक व्यवहार में यह प्रत्यक्ष प्रसिद्ध होने से इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया गया है। यही कहा है "इन्द्रिय और मन के निमित्त से पैदा होने वाला एक देश निर्मल ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।" यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उपचार सिद्ध होने से मुख्य प्रत्यक्ष नही है, वास्तव में तो यह परोक्ष ही है, इन्द्रियों से पैदा होने के कारण मतिज्ञान रूप होने से।

शंका—प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रिय और मन को ही क्यों

योरपि तस्य कारणत्वादिति चेन्न, अर्थालोकयोर्ज्ञानकारणत्वा-नुपपत्ते.। अर्थाभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः। आलोकस्यापि न ज्ञानकारणत्वं, तदन्वयव्यतिरेकाभावात्, आलोकसत्वेऽपि घूकादीना ज्ञानोत्पत्त्यभावात्। तदभावेऽपि च रात्रौ नक्तंचरा-दीना ज्ञानोत्पत्ते.।

सर्वथा विशदं पारमार्थिक प्रत्यक्षं। यज्ज्ञानं साकल्येन स्पष्ट तत्पारमार्थिकं प्रत्यक्ष तदेव मुख्यप्रत्यक्षमिति निगद्यते। तद् द्विविधं सकलं विकलं च। तत्र पुद्गलद्रव्यपर्यायविपय विकलं। तदपि द्विविधमवधिज्ञान मन.पर्ययज्ञान च। यद् द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादया–पुद्गल (रूपि) द्रव्यस्य काश्चित्

बताया जब कि पदार्थ और प्रक।श भी उसके कारण है ?

समाधान —ऐसा नही हो सकता। पदार्थ और प्रकाश को ज्ञान का कारण नही माना जा सकता। क्योकि पदार्थ के न होने पर भी वालो में मच्छरादि का ज्ञान होता है। प्रकाश भी ज्ञान का कारण नही क्योंकि ज्ञान के साथ उ.नका अन्वय व्यति-रेक नही है। प्रकाश के होने पर भी उल्लू वगैरह को ज्ञान नही होता और प्रकाश के न होने पर भी रात्रि मे विल्ली, उल्लू वगैरह को ज्ञान होता है।

पूर्ण निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और वही मुख्य प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह दो प्रकार का है सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। उनमें जो पुद्गल द्रव्य की पर्याय को विषय करता है वह विकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है–अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा से पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को जानता है वह अवधिज्ञान कहा जाता है–मर्यादा पूर्वक जानने

पर्यायान् विजानाति तदवविज्ञान मर्यादारूपत्वात् । यत् पुनः परमनोगतपुद्गलद्रव्यविषयं तन्मन पर्यंयज्ञानं । एतच्च ज्ञानद्वयं स्वस्वावरणवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद् समुत्पद्यते । पूर्वोक्तं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमपि स्वावरणक्षयोपशमात् संजायते । सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलं । तच्च ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयनिरवशेषक्षयादाविर्भूतं केवलज्ञानमेव लोकालोकप्रकाशक, "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इति तत्त्वार्थसूत्रे प्ररूपणात् । तदेवमवधिमनःपर्यंयकेवलज्ञानत्रयं सर्वतो वैशद्यमात्ममात्रसापेक्षत्वात् ।

ननु अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियं तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तस्यैव प्रत्यक्षत्वमुचितं नान्यस्य इति, तदसत्, आत्ममात्रसापे-

---

से । और जो दूसरों के मन में स्थित भावों को जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है । ये दोनो ज्ञान अपने अपने आवरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं । पहले कहा गया सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी अपने आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । जो सम्पूर्ण द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों को जानता है वह सकल प्रत्यक्ष कहलाता है इस प्रकार ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से पैदा होने वाला केवलज्ञान ही लोक और अलोक का प्रकाशक है । "सव द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायों को केवलज्ञान विषय करता है"—ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में निरूपण किया गया है । अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्ण निर्मल होते हैं क्योंकि वे मात्र आत्मा से पैदा होते हैं ।

शंका:—अक्ष नाम चक्षु वगैरह इन्द्रियों का है, उनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाना उचित है, अन्य को नहीं ।

क्षाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामप्यवधिमन:पर्ययकेवलानां प्रत्यक्षत्वाविरोधात् । इन्द्रियजन्यत्वाभावेऽपि तेषां विशदप्रतिभासात्मकत्वात् प्रत्यक्षत्व । न खलु इन्द्रियजन्यत्व प्रत्यक्षत्वप्रजोकमपि तु विशदप्रतिभासात्मकत्वं ।

कथं पुनरेतेषां प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमिति चेत् रूढित इति । अथवा अश्नुते अक्ष्णोति व्याप्नोति वा सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानिति अक्ष आत्मा तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिक प्रत्यक्षमिति । तर्हि इन्द्रियजन्यस्याप्रत्यक्षत्वं स्यात् इति चेन्न, इन्द्रियजन्यज्ञानस्य वस्तुतोऽप्रत्यक्षत्वात्, उपचारत एव तस्य प्रत्यक्षत्वस्वीकारादित्युक्तमेव । उपचारमूलं तु तस्य देशतो विशदत्वमिति । एतेनाक्षेभ्य: इन्द्रियेभ्य: परावृत्तं परोक्षमित्यपि निरस्तं; अवैश-

---

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही, मात्र आत्मा की अपेक्षा रखने वाले एवं इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञानों के प्रत्यक्ष होने मे कोई विरोध नही है । इन्द्रियों से पैदा न होने पर भी उनको निर्मल प्रतिभास स्वरूप होने से प्रत्यक्षता है ही । वास्तव में इन्द्रियों से पैदा होना प्रत्यक्षता नही वल्कि ज्ञान का निर्मल होना है ।

इन ज्ञानों को प्रत्यक्ष शब्द से कैसे कहा गया तो उत्तर है कि रूढि से । अथवा सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र काल भावों मे जो व्याप्त हो वह अक्ष अर्थात् आत्मा है और मात्र उसकी अपेक्षा जो उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष है । ऐसी मान्यता से इन्द्रियो से पैदा होने वाला ज्ञान अप्रत्यक्ष हो जायगा, ऐसा भी नही है, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान वास्तव में तो अप्रत्यक्ष ही होता है, उसे तो व्यवहार से ही प्रत्यक्ष माना है—ऐसा पहले कह दिया है । और व्यवहार से मानने का कारण भी उसकी आंशिक निर्मलता है । ऐसा सिद्ध होने से इन्द्रियो से अलावा जो ज्ञान होता है वह परोक्ष

द्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात् । नन्वतीन्द्रियप्रत्यक्षकल्पनाऽसंभवेति चेन्न, अर्हतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य संभवात् । तस्य सर्वज्ञत्वात् । नन्वियमपि तादृश्येव कल्पना, सर्वज्ञत्वासंभवादिति न वाच्यं, अनुमानत. सर्वज्ञत्वसिद्धेः । तथाहि कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययत्वात् । यो यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययः स तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारीत्यनुमानेन सर्वज्ञत्वसिद्धेः । सर्वज्ञसामान्यसाधनानन्तरं–अर्हन् सर्वज्ञो निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषो यथा रथ्यापुरुष इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेनार्हतः सर्वज्ञत्व साध्यते ।

है–इसका भी खंडन हो जाता है, क्योंकि निर्मल नही होना ही परोक्ष का लक्षण है । शंकाकार कहता है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की कल्पना असंभव है, पर यह कहना ठीक नही, क्योंकि अर्हन्त भगवान के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है–उसके सर्वज्ञ होने से । फिर शंकाकार कहता है कि यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैसी ही कल्पना है, क्योंकि सर्वज्ञ होना असभव है, ऐसा कहना भी अयुक्त है । अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । जैसे कि कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष करने वाला है, उनके ग्रहण करने का स्वभाव होते हुये बाधक कारणों का नाश हो जाने से । जिसके ग्रहण करने का स्वभाव होते हुए बाधक कारण का नाश हो जाता है वह उसका साक्षात्कार करता है, जैसे अंधकार के विनाश होने पर चक्षु रूप का प्रत्यक्ष करती है । इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है । सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि हो जाने पर अर्हन्त सर्वज्ञ है, दोष रहित होने से । जो सर्वज्ञ नही होता वह निर्दोष नही होता जैसे गली में रहने वाला मनुष्य । इस तरह केवल व्यतिरेकी अनुमान से अर्हन्त भगवान सर्वज्ञ सिद्ध होते है । अर्हन्त भगवान दोष रहित है,

कथं तस्य निर्दोषत्वमिति चेत् युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वादिति । तदपि तदभिमतस्य मुक्तिसंसारकारणस्याऽनेकांतात्मकतत्त्वस्य च प्रमाणाबाधितत्वात् सुव्यवस्थितमेव ।

प्रमाणविशेषपरोक्षस्वरूपम्

अविशदप्रतिभासं परोक्षं । तत् पंचविध-स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं, तर्कोनुमानमागमश्चेति । पंचविधमप्येतत् ज्ञानान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पद्यते । स्मृतेः पूर्वानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृत्यनुभवापेक्षा, तर्कस्यैतत्त्रयापेक्षा । अनुमानस्य लिंगप्रत्यक्षाद्यपेक्षा । आगमस्य च शब्दश्रवणाद्यपेक्षेति पंचस्वपि परोक्षप्रमाणेषु ज्ञानान्तरापेक्षा । प्रत्यक्षे तु न तथा, स्वातन्त्र्येणैव तस्योत्पत्तेः ।

क्योंकि उनकी वाणी युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित है । उनकी वाणी की अविरोधिता भी उनके माने हुये मुक्ति, संसार और अनेकान्त स्वरूप तत्त्व के प्रमाणो से बाधित न होने से सिद्ध ही है ।

प्रमाण के भेद परोक्ष का स्वरूप

जो ज्ञान निर्मल नही होता वह परोक्ष है । वह पांच प्रकार का है– स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । पांच प्रकार का यह परोक्ष दूसरे ज्ञानों की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है । स्मृति को पूर्व अनुभव की अपेक्षा है, या प्रत्यभिज्ञान को स्मृति और अनुभव की अपेक्षा है, तर्क को स्मृति, अनुभव और प्रत्यभिज्ञान तीनो की अपेक्षा है । अनुमान को हेतु, प्रत्यक्ष वगैरह की अपेक्षा है और आगम को शब्द वगैरह सुनने की अपेक्षा है । इस तरह पांचों ही परोक्ष प्रमाणों मे ज्ञानान्तर की अपेक्षा है जबकि प्रत्यक्ष में वैसा नही है । उसकी उत्पत्ति तो स्वतन्त्र रूप से होती है ।

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानलक्षणां पृथक्प्रामाण्यसमर्थनम्

स्मृतिप्रामाण्यसमर्थन—तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृति: यथा स देवदत्त । केचित् स्मृते: प्रामाण्यं न स्वीकुर्वन्ति तन्न समीचीनं । स्मृतेरनुभूतार्थविषयत्वेन गृहीतग्राहित्वाद-प्रामाण्यमिति न वक्तव्य, परिच्छित्तिविशेषसद्भावात् न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया प्रतिभासस्तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या वैशद्याऽप्रतीते: । न च तस्या विसम्वादादप्रामाण्यं, दत्तग्रहादि-विलोपापत्ते: । तद्गृहीतेर्थे स्वयं स्थापितनिक्षेपादौ प्राप्तिप्रमा-णांतरप्रवृत्तिलक्षणाविसम्वादप्रतीते: । यत्र तु विसम्वादस्तत्र स्मृतेराभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत् । यदि स्मृते प्रामाण्य न स्वी-

---

स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क वगैरह की भिन्न-भिन्न प्रमाणता की सिद्धि

स्मृति की प्रमाणता की सिद्धि.—पहले अनुभव किये गए पदार्थ को 'वह' इस आकार में ग्रहण करने वाला ज्ञान स्मरण या स्मृति है, जैसे वह देवदत्त । कई स्मृति की प्रमाणता नही मानते–यह ठीक नही । वे कहते है स्मृति अप्रमाण है, क्योंकि वह पूर्वानुभूत पदार्थ को विषय करने वाली होने से गृहीतग्राही है–ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि वह भी ज्ञान विशेष है । यह ठीक है कि जैसा प्रत्यक्ष में निर्मल प्रतिभास होता है वैसा स्मृति में नहीं होता– स्मृति मे निर्मलता की प्रतीति नही होती । वह विसम्वादी है अत: अप्रमाण है– ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योंकि इमसे तो देन लेन आदि व्यवहार निर्मूल हो जायगे । स्मृति पूर्वक रखे गए या गाडे गए पदार्थों की प्राप्ति होती है– उसमें किसी प्रमाणान्तर की जरूरत नही होती और न कोई गलत फहमी होती, अत: कोई विसम्वाद नही और जहां विसम्वाद होता है वहां स्मृत्याभास कहा जाता है प्रत्यक्षाभास की तरह । अगर स्मृति को प्रमाण न माना

क्रियेत तर्हि तदधीनः निखिलोऽपि लोकव्यवहारोऽविश्वसनीयः स्यात्। स्मृतेरप्रामाण्ये तु अनुमानवार्ताऽपि दुर्लभा। तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगात्। ततोनुमानस्य प्रामाण्यं स्वीकुर्वद्भिः स्मृतेरवश्यमेव प्रामाण्यमङ्गीकर्तव्यमिति।

प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यसमर्थनं—दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं। तदनेकविधं एकत्वसादृश्यवैसादृश्यप्रतियोग्यादि-भेदात्। तदेवेदमितिएकत्वप्रत्यभिज्ञान, तथा स एवायं देवदत्तः। तत्सदृशमिति सादृश्यप्रत्यभिज्ञान यथा गोसदृशो गवयः। तद्वि-लक्षणमिति वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानं, यथा गोविलक्षणो महिषः। तत्प्रतियोगीति तुलनाप्रत्यभिज्ञानं, यथा इदमस्माद् दूरमिति।

जाय तो स्मृति के द्वारा होने वाला सारा लोकव्यवहार विश्वास के योग्य नही रहेगा। और स्मृति के अप्रमाण हो जाने पर तो अनुमान भी प्रमाणभूत नही ठहरेगा। व्याप्ति के स्मरण किए बिना अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता। इसलिए अगर अनुमान को प्रमाण माना जाता है तो स्मृति को भी अवश्य ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि— वर्तमान मे पदार्थ का दर्शन और पूर्व मे देखे हुये का स्मरण दोनों के संकलन से उत्पन्न होने वाला अनुसन्धान रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। वह एकत्व, सादृष्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक प्रकार का है। यह वही है-यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है जैसे यह वही देवदत्त है। यह उसके समान है-यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है, जैसे गाय सरीखा गवय होता है। यह उसके समान नहीं है-यह वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान है जैसे गाय से विलक्षण भेस होती है। यह इससे दूर है-वह प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान है जैसे जयपुर से देहली दूर है।

ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षप्रमाणरूपत्वात् परोक्षरूपतयाऽत्राभिधानमयुक्तं, तथा हि प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत्; तन्न समीचीन, प्रत्यभिज्ञायामिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धेः। अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽपि अस्योत्पत्ति. स्यात्। न च स्मृतिसहायमिन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान जनयतीति वाच्यं, प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात्। तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वाभावः स्यात्। प्रत्यक्षं हीन्द्रियसम्बद्धमेवार्थं प्रकाशयति, प्रत्यभिज्ञानं तु पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकत्वविषयम्।

ननु स एवायमित्यादिप्रत्यभिज्ञानं नैक ज्ञान, स इत्युल्लेखस्य स्मृतिरूपत्वात्, अयमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात्। नचाभ्यां

शंका—प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है अत. उसे यहां परोक्ष रूप कहना ठीक नहीं। जैसे कि–प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है, इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक घटित होने से और प्रत्यक्षों की तरह।

समाधान—यह ठीक नही–प्रत्यभिज्ञान का इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक घटित नही होता। नही तो पहले पहल व्यक्ति को देखने के समय भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होनी चाहिए। स्मृति की सहायता प्राप्त इन्द्रिय, प्रत्यभिज्ञान को पैदा करेगी यह कहना भी ठीक नही, क्योंकि प्रत्यक्ष को स्मृति की अपेक्षा नही होती। यदि प्रत्यक्ष भी स्मृति की अपेक्षा करे तो वह अपूर्व अर्थ का साक्षात्कार करने वाला नही होगा। प्रत्यक्ष तो इन्द्रियों से सम्बन्धित पदार्थ को ही प्रकाशित करता है परन्तु प्रत्यभिज्ञान का विषय तो पूर्व और उत्तर पर्याय मे रहने वाला एकत्व है।

शंका—यह वही है–इस तरह का जो प्रत्यभिज्ञान है वह एक ज्ञान नही है। वह यह उल्लेख तो स्मृति का विषय है, यह उल्लेख प्रत्यक्ष का विषय है। इन दोनों से अलग कोई ज्ञान

व्यतिरिक्तं ज्ञानमस्ति यत् प्रत्यभिज्ञानशब्दवाच्य भवेत् । नाप्य-नयोरेकत्व, प्रत्यक्षानुमानयोरपि तत्प्रसङ्गात् । विशदेतररूपतया तयोर्भेदे स्मृतिप्रत्यक्षयोरपि भेदः स्यात्, इत्येतत् सर्वं न युक्ति-संगतम् । स्मृतिप्रत्यक्षोत्पन्नस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य सङ्कलनात्मकज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेनानुभवसिद्धत्वात् । न खलु केवला स्मृतिरेव भूतवर्तमानपर्यायवर्तिद्रव्य सकलयितुं समर्था, तस्या अतीतपर्यायमात्रविषयत्वात् । नापि प्रत्यक्ष, तस्य वर्तमानपर्यायमात्रगोचरत्वात् ।

कथं च प्रत्यभिज्ञानास्वीकारेऽनुमानप्रवृत्तिः । पूर्वधूमसदृश-धूमदर्शनादग्नेरनुमान भवति । न च प्रत्यभिज्ञानं विना तेन सदृशोऽय धूम इति प्रतिपत्तिरस्ति ।

नहीं है जो प्रत्यभिज्ञान शब्द का वाच्य हो । इन दोनों का एकत्व हो नही सकता, यदि हो तो प्रत्यक्ष और अनुमान के भी एकत्व का प्रसंग होगा । विशद और अविशद होने से उनमें भेद माना जाय तो स्मृति और प्रत्यक्ष मे भी भेद होगा ?

समाधान – यह सब कुछ तर्क सम्मत नही है । स्मृति और प्रत्यक्ष से पैदा हुए पूर्व और उत्तर पर्याय मे रहने वाले एक द्रव्य विषयक जोड रूप ज्ञान के प्रत्यभिज्ञान रूप से अनुभव सिद्ध होने के कारण यह शका निर्मूल है । वस्तुत. केवल स्मृति ही भूत और वर्तमान पर्याय मे रहने वाले द्रव्य को विषय नहीं कर सकती, क्योंकि उसका विषय तो भूत पर्याय मात्र है । और न प्रत्यक्ष एकत्व को विषय करता है, क्योंकि उसका विषय मात्र वर्तमान पर्याय है ।

और प्रत्यभिज्ञान न मानने पर तो अनुमान की प्रवृत्ति भी कैसे होगी ? पहले की धूम के समान धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है । और प्रत्यभिज्ञान के विना यह धूम उसके समान है–ऐसा ज्ञान ही नही हो सकता ।

ननु एकत्वमेव प्रत्यभिज्ञा, सादृश्यज्ञानं तूपमानमिति चेन्न। तथा तथा सति वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात्। यथैवगोदर्शनाहितसंस्कारस्य गवयदर्शिनोऽनेन समानः स इति प्रतिपत्तिः तथा महिष्यादिदर्शिनोऽनेन विलक्षणः स इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति। तथा च प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन पूर्वोक्तानां सर्वेषां प्रत्यभिज्ञानत्वमेव।

तर्कस्य पृथक् प्रामाण्यसमर्थनम्–व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगंधासहिष्णुः सम्बन्धविशेषोव्याप्ति.। स एवाविनाभाव इत्यपि कथ्यते। अविनाभावा-

---

शका—एकत्व ज्ञान को तो प्रत्यभिज्ञान कहा जाना चाहिए पर सादृश्यज्ञान को तो उपमान कहा जाना ठीक होगा।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही। ऐसा मानने पर तो विलक्षण ज्ञान को कौनसा प्रमाण कहना होगा। जिस प्रकार गाय के देखने से संस्कार ग्रहण करके गवय को देखने पर गाय के समान गवय है–ऐसा ज्ञान होता है, उसी प्रकार भैंस वगैरह देखने वाले को यह गाय से विलक्षण है ऐसी विलक्षण प्रतिपत्ति भी होती है। इसलिए पहले वर्णन किए गए सभी में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण घटने से सब के सब प्रत्यभिज्ञान है।

तर्क प्रमाण का समर्थन

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है। साध्य और साधन में गम्य गमक भाव को प्रदर्शित करने वाले और उसमे जरासा भी हेरफेर नही सहने वाले सम्बन्ध विशेप को व्याप्ति कहते हैं। वही अविनाभाव है ऐसा भी कहा जाता है। अविनाभाव अर्थात् साधन का साध्य के होने पर होना–अभाव मे बिलकुल नहीं होना। अविनाभाव इस दूसरे नाम वाली इस व्याप्ति के

परनाम्न्या एतस्याः व्याप्तेः प्रमितौ यत् साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणं पृथगेव। अनेन हि साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिः क्रियते। अस्योदाहरणं तु यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्निरिति। तर्को हीमां व्याप्तिं सर्वदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति। यस्मिन् कस्मिंश्चिद् देशे, यस्मिन् कस्मिंश्चित् काले यावान् कश्चिद् धूमः सोऽग्निजन्मा भवति अनग्निजन्मा वा न भवतीत्येवंरूपः सर्वोपसंहारः। प्रत्यक्षस्य तु सन्निहितवर्तमानविषयत्वान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्।

ननु यद्यपि प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे समर्थं न भवति तथापि स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहकृतः प्रत्यक्षविशेषस्तां विषयीकर्तुं शक्नुयादिति किं तर्कनाम्ना पृथक्प्रमाणेनेति चेन्न। सहकारिशतसमवधानेऽपि प्रत्यक्षस्य विषयान्तरप्रवृत्त्ययोगात्। वस्तुतस्तु

ज्ञान करने मे जो सर्वोत्कृष्ट साधक है—वह तर्क नाम का प्रमाण भिन्न ही है। निश्चय से इसके द्वारा साधन साध्य संबन्धी अज्ञान दूर किया जाता है। इसका उदाहरण जहां जहां धूंवा है वहां वहां अग्नि है। इस व्याप्ति को तर्क सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण काल के लिए विषय करता है। जिस किसी देश में और जिस किसी भी काल मे जो कुछ धूवा है वह अग्नि से पैदा होती है, विना अग्नि के कभी नहीं होती, यह सर्वोपसंहार का का रूप है। प्रत्यक्ष तो व्याप्ति का प्रकाशक नही हो सकता क्योंकि वह सन्निकट वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है।

शंका—यह सही है कि सिर्फ प्रत्यक्ष तो व्याप्ति के ज्ञान करने में समर्थ नही है तो भी स्मरण और प्रत्यभिज्ञान से युक्त प्रत्यक्ष विशेष तो व्याप्ति का ज्ञान कर ही सकता है तो फिर तर्क नामका अलग प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता हे ?

समाधान—यह सही नहीं है। सौ सहकारी मिलने पर भी प्रत्यक्ष की विषयान्तर में प्रवृत्ति नही हो सकती। वास्तव मे

स्मरणं, प्रत्यभिज्ञानं, भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा एतादृशमेकं ज्ञानं समुत्पादयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थं, तर्कोऽपि स एव ।

ननु अनुमानं व्याप्तिं गृह्णीयादिति चेन्न, प्रकृतानुमानापरानुमानकल्पनायामन्योन्याश्रयाऽनवस्थाऽवतारात् । प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं गृह्णातीतिपक्षेपि तद्विकल्पस्याप्रमाणत्वे कथं तद्गृहीतव्याप्तौ समाश्वासः, प्रमाणत्वे तु प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तः तर्क एवेति सिद्ध तर्काख्य पृथक्प्रमाणमिति ।

ननु व्याप्यारोपेण व्यापकारोपरूपस्तर्को मिथ्याज्ञानमेवेतिचेन्न, तस्य मिथ्याज्ञानत्वेऽनुमानस्य न कदाचिदपि प्रामाण्यं स्यादिति तर्कस्य प्रामाण्यमवश्यमेव स्वीकर्तव्यम् ।

तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और पुनः दर्शन रूप प्रत्यक्ष मिलकर ऐसे एक ज्ञान को पैदा करते है जो व्याप्ति का ज्ञान करने में समर्थ है, और वह ज्ञान तर्क ही है ।

अनुमान व्याप्ति का ज्ञान करलेगा यह भी ठीक नही बैठता। प्रकृत अनुमान के लिये दूसरे अनुमान की और उसके लिए दूसरे और अनुमान की कल्पना करने पर अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। प्रत्यक्ष के बाद मे होनेवाला विकल्प व्याप्ति को जान लेगा—इस पक्ष में भी उस विकल्प के अप्रमाण होने पर उसके द्वारा ग्रहण की गई व्याप्ति का विश्वास कैसे होगा और यदि वह विकल्प प्रमाण है नो प्रत्यक्ष अनुमान के अलावा वह तर्क प्रमाण ही है। इस तरह तर्क नाम का प्रमाण भिन्न सिद्ध हो जाता है ।

शका—व्याप्य (साध्य-अग्नि) के आरोप से व्यापक (साधन-धूंवा) का आरोप रूप जो तर्क है वह मिथ्याज्ञान ही है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही। तर्क को मिथ्याज्ञान मानने पर अनुमान को कभी प्रमाणता नही होगी, इसलिए तर्क प्रमाण की प्रमाणता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए ।

अनुमानप्रामाण्यसमर्थनम् -साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं । यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादिति । साधनमन्यथानुपपत्येकलक्षणं, साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति प्रोक्तत्वात् । साध्यं तु इष्टाबाधितासिद्धरूप । तथा चाविनाभावैकलक्षणसाधनज्ञानाद् यत् साध्यज्ञानं भवति तदनुमानं । तस्य द्वौ भेदौ, स्वार्थानुमान-परार्थानुमानविकल्पात् । स्वप्रतिपत्तिहेतुः स्वार्थानुमानं परप्रतिपत्तिहेतुश्चपरार्थानुमानम् । स्वयमेव निश्चिताद् धूमादयं प्रदेशो वह्निमानितिज्ञानं यदा भवति तदा तत् स्वार्थानुमानं प्रोच्यते । अस्य स्वार्थानुमानस्य त्रीणि अङ्गानि—धर्मी, साध्यं, साधनञ्च । तत्र साधन गमकत्वेनाङ्गं, साध्यं गम्यत्वेन, धर्मी तु साध्यधर्मा-

---

अनुमान प्रमाण का समर्थन

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है। जैसे पर्वत अग्निवाला है धूमवाला होने से। अन्यथानुपपत्ति रूप से निश्चित होना अर्थात् साध्य के बिना न होना यही एक मात्र साधन का लक्षण है। जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है उसे ही हेतु कहा गया है। इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते है। इस तरह अविनाभाव लक्षण वाले साधन के ज्ञान से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है। उसके दो भेद है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। परोपदेश के विना स्वतः ही साधन से साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते है और दूसरों के उपदेश के द्वारा साधन से साध्य के ज्ञान को परार्थानुमान कहते है। अपने आप ही निश्चित धूम से यह प्रदेश अग्नि वाला है ऐसा ज्ञान जब होता है तब वह स्वार्थानुमान कहलाता है। इस स्वार्थानुमान के तीन अंग है—धर्मी, साध्य और साधन। साधन गमक होने से, साध्य गम्य होने से और धर्मी साध्य धर्म

धारत्वेन । पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयमपि स्वार्थानुमानस्य । एतत्तु विवक्षाया: वैचित्र्यात्, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिण एव पक्षत्वात् ।

परोपदेशापेक्षसाधनज्ञानाद् यत् साध्यविज्ञानं भवति तत्परार्थानुमान । प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनज्ञानहेतुकं साध्यपरिज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थ. । पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते:, तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्वेति वाक्यमाकर्ण्य तद्वाक्यार्थं विचारयत: स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते । एतस्य परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य स्वार्थानुमानवत् द्वौ अवयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्चेति । तत्र पक्षवचन प्रतिज्ञा, यथा पर्वतो वह्निमानिति । साधनवचनं हेतु:, यथा धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते-

---

का आधार होने से अंग है । स्वार्थानुमान के पक्ष और हेतु ये दो अंग भी माने जाते है । यह सब कथन की विचित्रता है, क्योंकि साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी को ही पक्ष कहते हैं ।

परोपदेश से होने वाला साधन से साध्य का ज्ञान परार्थानुमान है । प्रतिज्ञा हेतु रूप परोपदेश से श्रोता को उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है । जैसे यह पर्वत अग्निवाला है, धूम वाला होने से-या धूम वाला अन्यथा नहीं हो सकता । इस वाक्य को सुनकर और उस वाक्य के अर्थ का विचार करता हुआ जिस श्रोता ने अग्नि और धूम की व्याप्ति ग्रहण की है, उसे व्याप्ति का स्मरण होने पर जो अग्निज्ञान उत्पन्न होता है वह परार्थानुमान है । इस परार्थानुमान के प्रयोजक वाक्य के दो अवयव होते हैं । एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु । धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते है, जैसे यह पर्वत अग्नि वाला है । साध्य से अविनाभाव रखने वाले साधन के वचन को हेतु कहते हैं, जैसे धूम वाला अन्यथा नहीं हो सकता या धूम वाला होने से । हेतु के इन दोनों

रिति तथैवधूमवत्त्वोपपत्तेरिति वा। अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्ति-वैचित्र्यमात्रं, प्रथमे निषेधमुखेन कथन द्वितीये तु विधिमुखेनेति, द्वयोरेकनेव प्रयोक्तव्यं। धूमादित्यपि प्रयोक्तु शक्यते वेति।

नैयायिकास्तु परार्थानुमानस्य पंचावयवान् स्वीकुर्वन्ति, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनाख्यान्। तत्त् नावश्यक, पूर्वोक्ताभ्या द्वाभ्यामेवावयवाभ्या प्रतिज्ञाहेतुरूपाभ्या पर्याप्तत्वात्। वीतरागकथायां तु शिष्याभिप्रायानुरोधेन यद्यपि अवयवाधिक्यमपि स्यात् किन्तु विजिगीषुकथाया प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्ते: अन्यैरवयवै: न किमपि प्रयोजनम्। विजिगीषुकथा हि वादिप्रतिवादिनो: स्वमतस्थापनार्थं प्रवर्तमानो वाग्व्यापार:। गुरुशिष्याणां जिज्ञासूनां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं

प्रयोगो में कोई अन्तर नही है– कहने की विचित्रता मात्र है। पहला कथन निषेध रूप से है और दूसरा विधि रूप से। दोनों मे से एक का ही प्रयोग करना चाहिए। धूंवा होने से यह भी प्रयोग किया जा सकता है।

नैयायिक तो परार्थानुमान के पाच अग स्वीकार करते है– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। पर ये पांच अंग स्वीकार करना जरूरी नहीं है, पहले कहे गये प्रतिज्ञा हेतु रूप दो अवयव मानना ही काफी है। वीतराग कथा में तो शिष्य को समझाने के लिए यद्यपि अधिक अवयव भी माने जा सकते हैं लेकिन विजिगीषु कथा में तो प्रतिज्ञा और हेतु रूप दो अवयव ही पर्याप्त हैं, अन्य अवयव मानने में कोई फायदा नहीं है। वादी और प्रतिवादी लोगों का अपने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए जो वचन व्यवहार होता है वह विजिगीषु कथा कहलाती है। तथा रागद्वेष रहित तत्वज्ञान की इच्छा रखने वाले गुरु-शिष्यो के तत्व निर्णय होने तक जो वचन व्यवहार चलता है

प्रवर्त्तमानो वचनव्यवहारो वीतरागकथा। वादस्तु विजिगीषु-कथारूपः, तस्मिन् न पूर्वोक्तावयवाधिक्यस्य प्रयोजनं। वीत-रागकथाया तु शिष्यानुरोधेन द्वौ वा त्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा अवयवा भवन्ति। "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत" इत्युक्तत्वात्। के ते पञ्चावयवा इति चेत्, पर्वतो वह्निमानिति-प्रतिज्ञा, धूमवत्त्वादितिहेतुः, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसः, यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदः, इति उदाहरणं। धूमवाश्चायमित्युपनयः, तस्माद् वह्निमानिति-निगमनम्।

ननु भवद्भिरुक्तमन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनं; किन्तु तत् त्रिरूपं पंचरूप वास्तु। पक्षधर्मसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तयो हि

वह वीतराग कथा है। विजिगीषुकथा वादकथा है– उसमें तो पूर्व चर्चित दो अवयवो से अधिक की कोई जरूरत नही है। वीतराग कथा मे तो शिष्य की योग्यता भेद से दो या तीन या चार अथवा पांच भी अवयव माने जा सकते है। "अवयवों के प्रयोग का तरीका तो शिष्य की योग्यता के आधार पर होता है"–ऐसा शास्त्रो मे कहा गया है। उन पाच अवयवो का प्रयोग इस प्रकार है। पर्वत अग्निवाला है–यह प्रतिज्ञा है। धूमवाला होने से यह हेतु है। जहां जहां धूवां है वहा वहां अग्नि है जैसे कि रसोईघर–जहा जहा अग्नि नही है वहा वहा धूवां भी नहीं है जैसे कि तालाव–यह उदाहरण है। यह पर्वत भी धूम वाला है– यह उपनय है। इसलिए अग्नि वाला है–यह निगमन है।

शंका—आपने हेतु का लक्षण एक मात्र अन्यथानुपपत्ति कहा है अर्थात् हेतु का साध्य के अभाव मे कभी नही पाया जाना। लेकिन वह हेतु तीन रूप वाला या पाच रूप वाला हो इसमे आपको क्या आपत्ति है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये हेतु के तीन रूप है और इन तीनों से संयुक्त अबाधित

हेतोः त्रीणि रूपाणि। पञ्चरूपाणि तु एतत्त्रयविशिष्टाबाधित-विषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे। यदि हेतोः त्रैरूप्यं पांचरूप्य वा लक्षण स्यात् का हानिरिति चेन्न, त्रैरूप्ये पांचरूप्ये वा हेतोर्लक्षणेऽव्याप्त्यतिव्याप्तिदोपापत्तेः। उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयादित्यादि-सद्धेतौ त्रैरूप्यपाचरूप्याभावेऽपि गमकत्वदर्शनादव्याप्तिः। गर्भस्थो मैत्रतनयः श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यादि असद्धेतौ त्रैरूप्य-पांचरूप्यसंभवेऽपि गमकत्वादर्शनादतिव्याप्तिः। अन्यथानुपन्नत्वं हेतोर्लक्षणं तु न कुत्रापि अतिव्याप्नोति। न च तस्य कुत्रचिद-व्याप्तिर्वा अत एतदेव हेतोः समीचीनं लक्षण। यत्रान्यथानुपपत्ति-स्तत्र न त्रैरूप्यस्य पाचरूप्यस्य वाऽऽवश्यकता। यत्र चैपा

विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पाच रूप है। यदि हेतु का त्रिरूपता या पच रूपता लक्षण हो तो क्या नुकसान है?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही। हेतु का लक्षण त्रिरूपत्व और पच रूपत्व मानने मे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष का प्रसग आता है। शकट अर्थात् रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्योकि कृत्तिका का उदय हो गया है–इस समीचीन हेतु मे न त्रिरूपता है और न पंच रूपता, फिर भी साध्य का ज्ञान कराने वाला होने से प्रमाण है। इस हेतु मे हेतु का लक्षण घटा नही अतः अव्याप्ति दोप दूषित है। गर्भ मे आया हुआ मित्र का पुत्र श्याम होगा क्योकि वह मित्र का पुत्र है–जैसे कि उसके अन्य श्याम पुत्र। इस तरह के असमीचीन हेतु मे त्रिरूपता और पंचरूपता मिलने पर भी वह अपने साध्य का ज्ञान नही कराता अतः अतिव्याप्ति दोप से दूषित है। हेतु का लक्षण अन्यथानु-पपन्नत्व मानने पर तो न कही अतिव्याप्ति दोष आता है और न कही अव्याप्ति ही, इसलिए यही हेतु का बढिया लक्षण है। जहा अन्यथानुपपत्ति है वहा त्रिरूपता या पंचरूपता की आव-श्यकता ही नही। और जहा अन्यथानुपपत्ति नही है वहा ये

नास्ति तत्र निरर्थकमेतद्द्वय । तथा चोक्तम्—

(१) अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

इद बौद्धानुद्दिश्य । नैयायिकान् प्रति तु—

(२) अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।
(१) नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

एष हेतु:संक्षेपतो द्विविध: । विधिरूप: प्रतिषेधरूपश्चेति । विधिरूपोऽपि द्विविधो, विधिसाधक: प्रतिषेधसाधकश्चेति । तत्र प्रथमोऽनेकविध:—कश्चित्कार्यरूप: यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादिति । कश्चित् कारणरूपो यथा वृष्टिर्भविष्यति विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरिति । कश्चिद्विशेषरूपो यथा वृक्षोऽयं निम्ब-

---

दोनो ही व्यर्थ है। ऐसा ही बौद्धो को लक्ष्य करके पात्र स्वामी ने कहा है "जहा अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव है वहा त्रैरूप्य मानने से कोई हित नही और जहा अन्यथानुपपत्ति नही है वहा त्रिरूपता होने पर भी वह हेतु असमीचीन ही है, अत: व्यर्थ है। नैयायिकों को लक्ष्य करके आचार्य विद्यानन्द ने भी कहा है—

जहा अन्यथानुपपन्नत्व है वहा पच रूप मानने से क्या लाभ है और जहां अन्यथानुपपन्नत्व नही है—वहा पच रूपत्व रहकर भी व्यर्थ ही है।

यह हेतु सक्षेप से दो प्रकार का है—विधि रूप और प्रतिषेध रूप। विधि रूप भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक से दो प्रकार का है। इनमे पहला अनेक प्रकार का है। कोई कर्मरूप होता है—जैसे पर्वत अग्नि वाला है धूमवाला होने से। कोई कारण रूप होता है— जैसे वर्षा होगी अन्यथा ऐसे विशिष्ट बादल उत्पन्न नही होते। कोई विशेष रूप होता है—जैसे यह

त्वात् । कश्चित्पूर्वंचरो यथा उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयात् । कश्चिदुत्तरचरो यथा उद्गाद् भरणी प्राक् कृत्तिकोदयात् । कश्चित्सहचरो यथा आम्रं रूपवत् रसवत्त्वात् । एते हि हेतवो भावरूपा भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तीति विधिसाधकविधि-रूपाः प्रोच्यते । अतएवाविरुद्धोपलब्धय इत्यप्युच्यन्ते ।

द्वितीयस्तु निषेधसाधक विरुद्धोपलब्धिरिति यावत्, यथा नास्य मिथ्यात्वं आस्तिक्यान्यथानुपपत्तेः । यथा वा नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः अनेकान्तत्वान्यथानुपपत्तेः ।

प्रतिषेधरूपोऽपिहेतुर्द्विविधो–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । आद्यो यथा अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं विपरीताभिनिवेशाभावात् । द्वितीयो यथा नास्त्यत्र धूमो वह्न्यनुपलब्धेः ।

वृक्ष है नीम होने से । कोई पूर्वचर होता है–जैसे शकट तारे का उदय होगा क्योंकि कृत्तिका तारे का उदय होगया है । कोई उत्तरचर होता है–जैसे भरणी का उदय पहले हो चुका क्योंकि कृत्तिका का उदय हो गया है । कोई सहचर होता है–जैसे आम रूप वाला है रसवाला होने से । निश्चय से ये सारे हेतु सद्भाव रूप हैं और सत्स्वरूप अग्नि वगैरह को सिद्ध करते है । इसलिए इन्हे विधि-साधक विधिरूप हेतु कहते हैं । अविरुद्धोपलब्धि नाम से भी ये पुकारे जाते हैं ।

दूसरा निषेध साधक है जो विरुद्धोपलब्धि नाम से भी कहा जाता है–जैसे इस जीव के मिथ्यात्व नही है, होता तो आस्तिकता नही हो सकती थी । अथवा वस्तु में सर्वथा एकान्त नही है, होता तो अनेकान्तत्व की उत्पत्ति नही हो सकती थी । प्रतिषेध रूप हेतु भी दो प्रकार का है-विधि साधक और प्रतिषेध साधक । पहला– जैसे इस जीव मे सम्यक्त्व है क्योंकि विपरीत आग्रह नही है । दूसरा– जैसे यहां धूंआ नही है क्योंकि अग्नि

अनयो. प्रथमो विरुद्धानुपलब्धि:, द्वितीयस्तु अविरुद्धानुपलब्धिरित्यपि निगद्यते। पूर्वोक्तहेतुलक्षणरहिता ये हेतवस्ते हेत्वाभासा एव। हेतुलक्षणरहितत्वेऽपि हेतुवदवभासमानत्वात्। ते च चत्वारोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्। तत्र असत्-सत्तानिश्चयोऽसिद्ध', तस्य द्वौ भेदौ, प्रथम. स्वरूपासिद्धो यथा शब्द परिणामी चाक्षुषत्वात्। शब्दस्य श्रावणत्वाच्चाक्षुषत्वाभावो निश्चित: इतिस्वरूपासिद्धत्वमस्य। द्वितीय: सदिग्धासिद्धो यथा कश्चिन्मुग्धबुद्धि प्रत्याह—अग्निरत्र धूमात्, तस्य वाष्पादिभावेन भूतसघाते संदेहात्।

साध्यविरुद्धव्याप्तो विरुद्ध., यथा अपरिणामी शब्द. कृतकत्वात्। कृतकत्वं हि अपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति।

उपलब्ध नही है। इन दोनो में पहला विरुद्धानुपलब्धि और दूसरा अविरुद्धानुपलब्धि नाम से भी कहा जाता है। जो हेतु ऊपर चर्चित हेतु लक्षण से रहित है वे हेत्वाभास ही हैं। उनमे हेतु का लक्षण नही रहता पर वे हेतु के समान मालुम पडते है, इसलिए वे हेत्वाभास कहाते हैं। हेत्वाभास के ४ प्रकार है—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर। सर्वथा पक्ष में न पाया जाने वाला अथवा जिसका साध्य के साथ सर्वथा अविनाभाव न हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। उसके दो भेद है। पहला भेद स्वरूपासिद्ध है–जैसे शब्द अनित्य है–चाक्षुप होने से। शब्द के श्रवण इन्द्रिय जनित होने से चाक्षुपत्व हेतु शब्द मे स्वरूप से ही असिद्ध है। दूसरा भेद संदिग्धासिद्ध है–जैसे किसी ने भोले मनुष्य को कहा कि यहां अग्नि है–धू वा होने से। चूंकि वह धूम और भाप का अन्तर नही जानता अत. भाप को धूंवा मानकर उसमे अग्नि का अनुमान करता है।

साध्य के विरुद्ध मे पाया जाने वाला विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह बनाया हुआ है। यहां कृतकत्व हेतु नित्यत्व के विपक्षीक्षणिकत्व के साथ व्याप्त है।

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः। स द्विविधि:, निश्चित-वृत्ति शङ्कितवृत्तिश्च। तत्र प्रथम अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयादस्य निश्चितवृत्त्यनैकांतिकत्व। द्वितीयस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्, सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधादस्यशङ्कितवृत्त्यनैकान्तिकत्वं। ज्ञानोत्कर्षे वचनानामपकर्षादर्शनात्।

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः। सिद्धः श्रावण शब्द. शब्दत्वात्। किञ्चिदकरणादस्याकिंचित्करत्वं। यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वादकिंचित्करत्वमस्ति।

आगमप्रमाणस्वरूप—आप्तवाक्यादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

विपक्ष मे भी पाया जाने वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास है। वह दो प्रकार का है। पहला निश्चितवृत्ति और दूसरा शकित वृत्ति। वहां पहला—जैसे शब्द अनित्य है प्रमेय होने से, घट की तरह। यहा प्रमेयत्व हेतु का विपक्षभूत नित्य आकाश मे पाया जाना निश्चित है, अतः यह निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक है। दूसरा—सर्वज्ञ नही है क्योकि वह वक्ता है। यहा सर्वज्ञत्व के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध न होने से वक्तृत्व हेतु शकित-वृत्ति अनैकान्तिक है। क्योकि ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वचनो का अपकर्ष नही देखा जाता।

सिद्ध साध्य मे और प्रत्यक्षादि बाधित साध्य में प्रयुक्त होने वाला हेतु अकिञ्चित्कर है। जैसे शब्द श्रवण इन्द्रिय जन्य है शब्द होने से। यहा हेतु के कुछ भी सिद्ध नही करने से अकिञ्चित्कर-पना है। जैसे अग्नि ठण्डी है द्रव्य होने से। यहा साध्य के प्रत्यक्ष बाधित होने से हेतु को अकिंचित्कर-पना है।

आगम प्रमाण का समर्थन

आप्त के शब्द को सुनकर या हस्त सकेत आदि को देखकर या ग्रन्थ की लिपि आदि के पढने से जो पदार्थों का ज्ञान होता

आप्तस्तु यथार्थवक्ता । यो यत्राऽवञ्चकः स तत्राऽऽप्तः । इदं च व्यवहारापेक्षयाऽऽप्तलक्षणं, आगमभाषया तु आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशको निरुच्यते । परमहितं तु निःश्रेयस तदुपदेश एव अर्हतः प्राधान्येन प्रवृत्तेः । तस्यैव केवलज्ञानप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकत्वादाप्तत्वं । यद्यपि सिद्धपरमेष्ठी अपि सकलपदार्थप्रत्यक्षदृष्टा तथापि न स आप्तस्तस्य परमहितोपदेशकत्वाभावात्, तदभावश्च शरीराद्यभावात् ।

ननु अर्थस्य कोऽर्थ. यज्ज्ञानमागमः प्रोच्यते । अर्थोह्यनेकांत'

है वह आगम प्रमाण है । आप्त प्रामाणिक वक्ता को कहते हैं । जो जिस विषय में अविसंवादक है वह उस विषय में आप्त है । आप्त का यह लक्षण व्यवहार की अपेक्षा से है । आगमिक भाषा मे तो प्रत्यक्ष के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर अर्थात् सर्वज्ञ होते हुए जो परम हित अर्थात् आत्म-कल्याण का उपदेष्टा होता है उसे आप्त कहते हैं । परमहित मोक्ष को कहते हैं और ऐसे उपदेश में अर्हन्तों की ही प्रधानता से प्रवृत्ति होती है । उस अर्हन्त के ही केवल-ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष होने पर परम हितोपदेशक होने से आप्त-पना है । यद्यपि सिद्ध परमेष्ठी भी सम्पूर्ण पदार्थो के ज्ञाता है फिर भी वे आप्त नही, क्योकि वे हितोपदेशी नही और उसका कारण शरीर वगैरह का न होना है ।

यदि यह कहा जाय कि अर्थ शब्द का क्या अर्थ है जिसके कि ज्ञान को आगम कहा जाता है तो वह अर्थ अर्थात् पदार्थ अनेकान्तात्मक होता है । अनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय के विषय-

अनेके अन्ता–अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचराः सामान्यविशेषादयो-धर्माः यस्य सोऽनेकांतः।

ननु आगमस्यापौरुषेयत्वान्नित्यत्वाच्च कथमाप्तवाक्यनिबंधनत्वमितिचेन्न,आगमस्य सर्वथाऽपौरुषेयत्वनित्यत्वाभावात्। आगमो हि द्रव्यादिसामान्यापेक्षया अनादिनिधन इष्यते, नहि केनचित् पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथंचिदुत्पेक्षित्त.सः। द्रव्यादिविशेषापेक्षया तु आदिरन्तश्च भवतीत्याप्तवाक्यनिबंधनत्वमागमस्योचितमेव।

अधुना प्रमाणस्वरूपसंख्यानिरूपणानन्तरं तद्विषयफलयोरपि किञ्चित् प्रस्तूयते। प्रमाणस्य विषयो हि सामान्यविशेषात्मकं

भूत सामान्य विशेष वगैरह अनेक अन्त–अर्थात् धर्म जिसमें होते है वह अनेकान्तात्मक कहलाता है। जैसे कि पदार्थ सामान्य विशेषादि अनेक धर्म-वाला है क्योंकि वह अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है।

शका—आगम तो अपौरुषेय और नित्य होता है फिर उसको आप्त-वाक्य-जन्यत्व कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसा कहना युक्ति सगत नही, क्योकि आगम सर्वथा अपौरुषेय और नित्य नही होता। निश्चय से द्रव्यादि सामान्य की अपेक्षा से आगम के नित्य-पना स्वीकार किया गया है, क्योकि किसी भी पुरुष के द्वारा वह द्रव्य कही कभी किसी तरह बनाया नही गया। द्रव्यादि विशेष की अपेक्षा से तो आदि भी होता है और अन्त भी, अत: आगम के आप्त-वाक्य कारणता उचित ही है।

प्रमाण का स्वरूप और सख्या वर्णन करने के वाद अब प्रमाण का विपय और फल का कुछ वर्णन किया जाता है। निश्चय से प्रमागा का विषय सामान्य विशेपात्मक वस्तु है।

वस्तु । न केवलं सामान्य, नापि केवलो विशेषो, नापि द्वयं स्वतंत्रम्; किन्तु तदात्मकं वस्तु प्रमाणग्राह्यं तस्यैव वस्तुत्व-समर्थनात् । तथाचोक्तं–"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।" गोर्गारित्यादिप्रत्ययोऽनुवृत्तकार । श्याम शबल इत्यादि प्रत्ययश्च व्यावृत्ताकार । वस्तु पूर्वाकारं जहाति तदानीमेव चोत्तराकारं स्वीकरोति द्रव्यात्मना च तदेव तिष्ठति । एतेन वस्तुनि चत्वारो धर्मा. सिद्धा भवंति । सामान्यद्वय विशेषद्वय चेति । एक तिर्यक् सामान्य सदृशपरिणामात्मक खण्डमुण्डादिपु गोत्ववत् । परापरपर्यायव्यापिद्रव्यमूर्द्ध्वतासामान्यं द्वितीयं, स्थासादिपर्यायेपु मृत्तिकावत् । तथैव एक. पर्यायाख्यो विशेष:

न केवल सामान्य रूप और न केवल विशेष रूप और न स्वतन्त्र रूप से दोनों रूप, किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है। और वस्तु भी वास्तव मे वही है जो सामान्य विशेषात्मक हो । ऐसा ही कहा है– "अनुवृत्त व्यावृत्त (सामान्य विशेष) प्रत्यय का विशद होने से पूर्व आकार का छोड़ना, उत्तर आकार का ग्रहण करना और किसी न किसी आकार से स्थिर रहना रूप त्रिलक्षण परिणमन से अर्थ क्रिया की उत्पत्ति होती है । गाय गाय यह सदृश प्रतीति अनुवृत्ताकार प्रत्यय है । काली गोरी यह विशेष प्रतीति व्यावृत्ताकार प्रत्यय है । वस्तु पहले के आकार को छोडती है और उसी समय दूसरे आकार को ग्रहण करती है और द्रव्य रूप से स्थिर रहती है । इससे वस्तु में चार धर्म सिद्ध होते है– दो सामान्य और दो विशेष । एक तिर्यक् सामान्य है जो सदृश परिणमन वाला होता है–जैसे खंडी मुंडी गायों में गो-पना । दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य है जो पहली और बाद की पर्यायो में रहने वाला एक द्रव्य है–जसे स्थास, कोश-कुशूलादि पर्यायों मे रहने वाली मिट्टी । इसी प्रकार एक पर्याय

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविपरिणामरूपः आत्मनि हर्षविषादादिवत् । द्वितीयोऽर्थान्तरगतविसदृशपरिणामात्मको व्यतिरेकाख्यो गोमहिषादिवत् ।

प्रमाणफलं तु द्विविधं । साक्षात्फलमज्ञाननिवृत्तिः, परम्परया तु हानोपादानोपेक्षाः । तत्फलं प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च । यः प्रमिमीते तस्यैवाज्ञाननिवृत्तिर्भवति, स एव जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतिसकलजनानुभवसिद्धा । अत· प्रमाणफलयोरभेद एव । करणक्रियापरिणामभेदात्तु भेद इति । प्रमाण हि करणं, तत्फलं तु प्रमितिरूपा क्रिया इति ।

।। इति द्वितोयोऽध्याय. ।।

नाम का विशेष होता है जो एक ही द्रव्य में एक के बाद एक होने वाली पर्याय रूप होता है– जैसे आत्मा मे सुख दुःख वगैरह । दूसरा व्यतिरेक नाम का विशेष है जो दूसरे पदार्थों में रहने वाला भिन्न पर्याय रूप होता है, गाय भैंस की तरह ।

प्रमाण का फल दो प्रकार का है । उसका साक्षात् फल अज्ञान का मिटना है तो परम्परा फल त्याग उपादान और उपेक्षा बुद्धि है । वह फल प्रमाण से अभिन्न भी है और भिन्न भी । जो जानता है उसीका अज्ञान मिटता है, और वही छोडता है या ग्रहण करता है अथवा उपेक्षा करता है, ऐसी प्रतीति सब लोगों को अनुभव सिद्ध है । इसलिए प्रमाण और फल अभिन्न ही है । और करण क्रिया रूप परिणमन के भेद से भेद भी है । प्रमाण करण है जबकि उसका फल जानने रूप क्रिया है ।

[दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।]

तृतीयोऽध्यायः

नयस्वरूपम्

प्रमाणनयैरधिगम इति पदार्थाधिगमहेतुत्वेन निर्दिष्टयोः प्रमाणनययोः प्रमाणं व्याख्यातं । साम्प्रतं नयो व्याक्रियते ।

नयो हि प्रमाणविकल्पः तस्य विकलादेशत्वात् । तथा चोक्तं—"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः ।" प्रमाणतो वस्तु परिगृह्य परिणतिविशेषापेक्षयाऽर्थावधारणं नयस्य प्रयोजनं । एतदेव स्पष्टयितुं शास्त्रकारैस्तस्यानेकानि लक्षणानि निरुक्तानि । तथा हि—वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन

तृतीय अध्याय

नय स्वरूप

प्रमाण और नय से तत्त्वों का ज्ञान होता है— इस सूत्र मे पदार्थों के अधिगम के उपाय रूप में कहे गये प्रमाण और नय में से प्रमाण का वर्णन किया। अब नय का व्याख्यान किया जाता है। नय निश्चय से प्रमाण का ही विकल्प है; क्योंकि वह विकलादेशी है। ऐसा ही कहा है—"सकलादेश प्रमाण के आधीन है तो विकलादेश नय के"। अर्थात् प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है और नय उसके अंशो को। प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के सम्बन्ध मे विशेष पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ का निश्चय करना नय का प्रयोजन है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकारो ने उसके अनेक लक्षण प्ररूपित किए हैं। जैसे कि—अनेक धर्म वाली वस्तु मे विरोध रहित हेतु का

हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः । अथवा नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति नय. । अथवा श्रुतप्रमाणविकल्पो नयः । ज्ञातुरभिप्रायो वा नय । इमानि च सर्वाणि लक्षणानि एकमेवार्थं प्रतिपादयन्ति । प्रमाणं हि द्रव्यपर्यायात्मकं सामान्यविशेषात्मकं वा वस्तु विजानाति । नयस्य तु न तादृशं सामर्थ्यं । स हि वस्तु विजानन् केवलं तस्य द्रव्यत्वांशं विजानीयात् पर्यायत्वांशं वा । तत्तु न सकलं वस्तु, तादृशांशस्य विकलत्वात् । सकल तु वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकं । अत एव प्रमाणस्य सकलादेशत्वं नयस्य च विकलादेशत्व सुप्रसिद्धं ।

ननु स्वार्थनिश्चायकत्वान्नयः प्रमाणमिति चेन्न, तस्य स्वार्थै-

---

प्रयोग करते हुए यथार्थ साध्य विशेष की प्राप्ति करने का जो उत्तम तरीका है वही नय है । अथवा भिन्न भिन्न स्वभावों से हटकर एक स्वभाव में वस्तु को जो प्राप्त कराता है वह नय है । अथवा श्रुत ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं । अथवा ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते है । ये सारे के सारे लक्षण एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते है । प्रमाण निश्चय से द्रव्य पर्यायात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक वस्तु को जानता है । लेकिन नय की वैसी सामर्थ्य नही है । वह तो वस्तु का ज्ञान करता हुआ केवल उसके द्रव्यांश को जान सकेगा या पर्यायांश को ही । पर वह तो वस्तु का पूर्ण स्वरूप नही है । केवल द्रव्यांश या पर्यायाश तो वस्तु का अपूर्ण रूप है । वस्तु का पूर्ण रूप तो द्रव्य पर्यायात्मक होता है । इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी कहा जाना सुप्रसिद्ध है ।

शंका—अपने अर्थ का निश्चय करानेवाला होने से नय प्रमाण ही है ।

कदेशनिर्णायलक्षणत्वात् प्रमाणाद् भिन्नत्वात् । ननु स्वार्थैकदेशो वस्तु अवस्तु वा ? यदि वस्तु तर्हि तत्परिच्छेदको नयः प्रमाण, यदि अवस्तु तर्हि तद्विषयो नयो मिथ्याज्ञानमिति न वक्तव्यं । स्वार्थैकदेशो हि न वस्तु नाप्यवस्तु, अपितु वस्त्वंशः । यथा समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रः अपि तु तस्यैकदेशः । तन्मात्रो यदि समुद्रः तर्हि शेषाशोऽसमुद्रः स्यात्, समुद्रबहुता वा भवेत् । तस्यासमुद्रत्वे तु क्व समुद्रवाग्विज्ञानप्रवृत्तिः । ननु नयो यदि वस्तुन एकमेवधर्मं गृह्णाति तर्हि तस्य मिथ्याज्ञानत्वं स्यात् । वस्तुन एकधर्मात्मकत्वाभावात् । तद्धि अनेकान्तात्मकमस्तीति

समाधान—सो भी नही है । नय वस्तु के एक देश का ही निर्णायक होता है अतः वह प्रमाण से भिन्न ही है ।

शका—पदार्थ का एक देश वस्तु है या अवस्तु ? अगर वस्तु है तो उस वस्तु को जानने वाला नय प्रमाण ही होगा और यदि अवस्तु है तो उसको विषय करने वाला नय मिथ्याज्ञान होगा ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए । नय के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला वस्तु का एक देश निश्चय से न तो वस्तु है और न अवस्तु ही; किन्तु वह वस्तु का अश है । जिस तरह घडे मे भरे हुए समुद्र के जल को न समुद्र ही कह सकते है और न असमुद्र ही; किन्तु वह समुद्र का एक अंश है । अगर घट प्रमाण जल ही समुद्र हो तो वाकी अश असमुद्र कहलायेगा अथवा जितने जल के घडे होगे उतने समुद्र कहे जायेगे तो समुद्र अनेक हो जायेगे । और यदि उसे असमुद्र कहोगे तो समुद्र वचन के ज्ञान की प्रवृत्ति कहा होगी । अतः जैसे घडे का जल समुद्र का एक देश है, असमुद्र नही, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नही ।

शंका—अगर नय वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान होगा क्योंकि वस्तु एक धर्मात्मक नही होगी वह तो अनेक धर्मात्मक होती है ।

चेन्न, अनेकान्तात्मकस्याऽपि वस्तुन: एकधर्मात्मकत्वज्ञानमपि धर्मान्तरानिपेधकं सम्यग्ज्ञानमेव । तद्वीतरधर्मनिषेधक मिथ्याज्ञान स्यादिति न नयस्य मिथ्याज्ञानत्व, तस्य सापेक्षत्वात् । ततो नयस्य स्वार्थैकदेशनिर्णयलक्षणत्वं समीचीनम् ।

एष नयो द्विविधो द्रव्यार्थिक: पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यार्थिकस्य त्रयो भेदा , नैगम: संग्रहो व्यवहारश्चेति । निगम: सकल्पस्तत्रभवो नैगम: । अयं हि नयोऽनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही, यथा जलेन्धनाद्याहरणे व्याप्रियमाण कञ्चित् पुरुषं कश्चित् पृच्छति किं करोति भवान् ? स आह ओदन पचामीति, किन्तु न

समाधान—ऐसा नही है । वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने पर भी उसके एक धर्म को जानने वाला नय यदि धर्मान्तरो का निषेध नही करता अर्थात् अपने अश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य अंशो को गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे तो वह सम्यग्ज्ञान ही है । अगर वह इतर धर्मो का निपेध करता है वो वह निश्चय ही मिथ्याज्ञान है । अत नय मिथ्याज्ञान नही है क्योकि वह नयान्तर की अपेक्षा करता है । इस प्रकार नय का वस्तु का एक अंश जानना रूप लक्षण समीचीन ही है ।

यह नय दो प्रकार का है-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक और पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है । द्रव्यार्थिक के तीन भेद है—नैगम, संग्रह और व्यवहार । निगम सकल्प को कहते है उसमें जो हो उसे नैगम कहते हैं । यह नय वास्तव मे अपूर्ण पदार्थ मे सकल्प मात्र को ग्रहण करता है । जैसे जल ईन्धन वगैरह लाने मे लगे हुए किसी पुरुप को कोई पूछता है कि आप क्या करते है ? वह कहता है चांवल पकाता हूँ, लेकिन

तदौदनपर्याय: सन्निहित:, तदर्थं व्याप्रियते स: । नैगमोऽयमन्योन्यगुणप्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपक:, सर्वथाऽभेदवादस्तु तदाभास: । स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयाविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रह यथा सत्, द्रव्यं, घट इत्यादि । सदित्युक्ते सर्वेषां सत्ताधारभूतानामविशेषेण संग्रहो भवति । द्रव्यमित्युक्ते जीवाजीवतद्भेदप्रभेदाना संग्रह: । घट इत्युक्ते सर्वेषा घटबुद्धयभिधानविषयभूतानां संग्रह. । संग्रहो हि प्रतिपक्षव्यपेक्षो यावन्मात्रतज्जातीयपदार्थग्राहक: । सर्वथा सन्मात्रग्राही तु तदाभास: । संग्रहगृहीत-

---

वह चांवल रूप पर्याय अभी मौजूद कहां है वह उसके लिए व्यापार ही तो कर रहा है । यह नैगम नय धर्म और धर्मी, गुण और गुणी मे गौण मुख्य भाव से भेद और अभेद दोनों को ग्रहण करने वाला है । धर्म और धर्मी मे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है । जो एक वस्तु की समस्त जाति को व उसकी समस्त पर्यायो को सग्रह रूप करके एक स्वरूप कहे, उसको सग्रह नय कहते है, जैसे सत्, द्रव्य, घट वगैरह । सत् ऐसा कहने से सम्पूर्ण सत् पदार्थों का संग्रह हो जाता है । द्रव्य ऐसा कहने से जीव अजीवादि तथा उनके भेद प्रभेदादि सबका ग्रहण होता है । घट कहने पर घट रूप से कहे जाने वाले सब घटों का ग्रहण हो जाता है । निश्चय से यह संग्रह नय विपक्षी की अपेक्षा न करता हुआ जितने भी एक जाति के पदार्थ है उन सव को ग्रहण करता है । सर्वथा सन्मात्र को ग्रहण करने वाला सग्रह नही सग्रहाभास है । अद्वैत ब्रह्मवाद शव्दाद्वैत आदि सभी संग्रहाभास हैं क्योकि इसमें भेद का सर्वथा निराकरण कर दिया है । संग्रह नय में अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नहीं– गौण अवश्य हो जाता है । सग्रह नय के द्वारा सगृहीत अर्थ का विधि पूर्वक भेद प्रभेद करने वाला व्यवहार

भेदको व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं गुणो वा। द्रव्य तु जीवद्रव्यमजीवद्रव्य वा। जीवाजीवावपि देवनारकादिर्घटादिश्चेति। काल्पनिको भेदस्तदाभासः।

पर्यायार्थिकस्य चत्वारो भेदाः—ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्चेति। ऋजुं प्रगुण वर्तमान सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः। पूर्वापरकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्तेऽयं नयः अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्।

ननु वर्तमानपर्यायमात्रग्राहकत्वादस्य नयस्य लोकसंव्यवहारलोपप्रसङ्ग इतिचेदत्रास्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। लोकसंव्यवहारस्तु सर्वनयसमूहसाध्यः। न चायमतीतानागतयो-

---

नय है। जैसे जो सत् है वह द्रव्य है या गुण है। द्रव्य है तो जीव द्रव्य है कि अजीव द्रव्य। जीव है तो देव नारकी वगैरह, अजीव है तो पुद्गल धर्म अधर्म वगैरह। विधि-पूर्वक भेद न करके कल्पना से भेद करना व्यवहाराभास है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजूसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। जो वर्तमान को विषय करे वह ऋजूसूत्र है। यह नय अतीत अनागत दोनों पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करता है। अतीत पर्याय के नष्ट हो जाने से तथा भावी पर्याय के पैदा न होने से व्यवहार नही हो सकता।

शंका—यह नय मात्र वर्तमान पर्याय का ग्रहण करने वाला होने से लोक व्यवहार का लोप हो जायगा।

समाधान—ऐसा नही है। यहा इस नय का विषय मात्र दिखलाया है। लोक व्यवहार तो सम्पूर्ण नयों के समूह द्वारा चलता है। और यह नय भूत और भावी का निषेध करता हो ऐसा भी नही है। प्रतिपक्ष की अपेक्षा रखता हुआ यह मात्र

र्निषेध करोति । प्रतिपक्षसव्यपेक्ष–वर्तमान–पर्यायमात्रग्राहित्वा-दस्य । क्षणिकैकान्तस्तु तदाभास. ।

लिङ्गसख्याकालादीनां भेदाच्छब्दस्य भेदकथनं शब्दनय । दार भार्या कलत्रमित्यत्र लिङ्गभेदात् त्रयाणां भिन्नत्व। जलमापो वर्षा ऋतु इत्यादौ संख्याभिन्नत्वाद् भिन्नत्वम् । विश्व-दृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता भावि कृत्यमासीदित्यादौ कालभिन्नत्वाद् भिन्नत्वम् । लिङ्गादिभेद विना शब्दानामेव नानात्वैकान्तस्त-दाभास: ।

पर्यायभेदात् पदार्थनानात्वनिरूपक. समभिरूढनय: । शब्द-भेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाऽपि अवश्यं भवितव्यम् । अन्यथा शब्द-

---

वर्तमान पर्याय का ग्रहण करने वाला है । अर्थात यह नय पर्याय की मुख्यता भले ही करे पर द्रव्य का अस्तित्व उसकी दृष्टि मे गौण रूप मे रहता ही है । बौद्ध का सर्वथा क्षणिकवाद ऋजूसूत्र नयाभास है क्योंकि उसमे मात्र पर्याय रहती है–द्रव्य का विलोप हो जाता है ।

लिंग, सख्या, काल, कारक के भेद से शव्द भेद होने पर अर्थभेद कहना शव्द नय है । दार. भार्या, कलत्र इनमे लिंग भेद-होने से तीनो शव्दो के अर्थमे भिन्नता है । जल, आप, वर्षा ऋतु इत्यादि शव्दो मे सख्या की भिन्नता होने से अर्थ की भिन्नता है । विश्व को देखने वाला इसके पुत्र हो गया– यहा होने वाले कार्य को हो गया ऐसा कहा गया अत: काल भिन्नता होने से अर्थ की भिन्नता है। लिगादि भेद के विना एकान्त रूप से शव्दो की ही भिन्नता से अर्थ भिन्नता मानना शव्दनयाभास है ।

पर्यायवाची शव्दो के भेद से अर्थभेद निरूपण करने वाला समभिरूढ नय होता है । यदि शव्द-भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए, नही तो शब्द भिन्नता व्यर्थ होगी । ऐश्वर्य क्रिया

भेदस्य निरर्थकत्व स्यात् । इन्दनादिन्द्र , शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरदर इत्यादिषु शब्दभेदादर्थभेदोऽप्यस्त्येव । अथवा नानाऽर्थान् समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढ., समभिरूढः, यथा गोरित्यय शब्दो यद्यपि वागाद्यनेकार्थेषु वर्तते तथापि पशुविशेपे रूढः । अथवा यो यत्र वर्तते स तत्र समेत्याभिरूढः समभिरूढ़ः, यथा क्व भवानास्ते, स आह आत्मनीति । यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात् ज्ञानादीना रूपादीना चाकाशे वृत्तिर्भवेत् । पर्यायनानात्वमन्तरेणापीन्द्रादिभेदकथन समभिरूढाभासः ।

क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमेवंभूतः । एतन्नयापेक्षया स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव स शब्दो युज्यते नान्यदा । यदैवेन्दति

की अपेक्षा से इन्द्र शब्द, शासन क्रिया की अपेक्षा से शक्र शब्द, पूर्दारण क्रिया की अपेक्षा से पुरन्दर शब्द– इन पर्यायवाची शब्दों मे शब्द के भेद से अर्थ भेद भी है ही । अथवा अनेक अर्थो को छोडकर के जो एक ही अर्थ में प्रसिद्ध हो उसको जाने या कहे सो समभिरूढ नय है । जैसे गो शब्द के गमन आदि अनेक अर्थ होते है तथापि मुख्यता से गाय ही ग्रहण होता है । अथवा जो जहां रहता है वह वहा पूर्ण रूप से अवस्थित है वह समभिरूढ नय है । जैसे आप कहां रहते है, वह कहता है— आत्मा में । अगर अन्य की अन्य जगह स्थिति हो तो ज्ञान वगैरह तथा रूपादि का आकाश में रहना हो जायगा । पदार्थ को एकान्त रूप मानकर भी इन्द्रादि शब्दों का भेद कथन करना समभिरूढाभास है ।

पदार्थ जिस समय जिस क्रिया मे परिणत हो उसको उस काल में उसी नाम से कहे या जाने उसे एवंभूत नय कहते है । इस नय की अपेक्षा से शब्द का जो कुछ अभिधेय है वैसी ही क्रिया करते हुए उस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है अन्य समय में नही । जब इन्द्र परम ऐश्वर्य सहित हो तभी उसे इन्द्र

तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजकः । यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयित इति । क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिकोऽव्यवहारस्तदाभासः ।

एषु पूर्वे चत्वारोऽर्थनयाः अर्थप्रधानत्वात् । अर्थप्रधानत्वं च शब्दापेक्षा विनाऽर्थप्ररूपणामात्रपरत्वं । अवशिष्टाश्च त्रयः शब्दनयाः शब्दप्रधानत्वात्, शब्दप्रधानत्वं च शब्दापेक्षयाऽर्थप्ररूपकत्व । एते सर्वेऽपि नयाः पूर्वपूर्वमहाविषयाः उत्तरोत्तराऽल्पविषयाश्चेति । तथाहि नैगमनयात् संग्रहोऽल्पविषय सन्मात्रग्राहित्वात्तस्य । नैगमस्तु भावाभावविषयत्वाद् बहुविषयः । यथैव नैगमस्य भावे संकल्पस्तथाऽभावेऽपि । व्यवहारः संग्रहादपि अल्पविषयः

कहना, पूजन अभिषेकादि करते हुए इन्द्र नही कहना । गाय जब चले तभी गाय कहना– बैठे और सोते हुए नही । क्रिया के अनुसार शब्द का प्रयोग न कर अन्य शब्द का प्रयोग करना एवम्भूताभास है ।

इन सात नयों में पहले के चार नय अर्थ प्रधान होने से अर्थनय है । इनको अर्थ प्रधानता इसीलिए है कि शब्दो की अपेक्षा के बिना मात्र ये पदार्थ की प्ररूपणा करते है । बाकी बचे हुये तीन नय शब्द शास्त्र की भूमिका अदा करने से शब्द नय है । इन्हे शब्द प्रधान कहने का कारण यही है कि शब्द की अपेक्षा पदार्थ का निरूपण करते है । ये सब नय पहले पहले वाले महा विषय वाले है तो आगे आगे वाले अल्प विषयक हैं । जैसे कि नैगम नय से सग्रह नय अल्प विषय वाला है क्योंकि वह सत् तक ही सीमित है । नैगम नय तो सत् और असत् दोनो को विषय करता है अतः महाविषय वाला है । नैगम नय जैसे सत् में संकल्प करता है वैसे ही असत् में भी । व्यवहार नय संग्रह नय से भी अल्प विषयक है क्योंकि वह संग्रह के द्वारा

तद् भेदप्रभेदविषयत्वात् । संग्रहस्तु बहुविषयोऽभेदगोचरत्वात् । ऋजुसूत्रस्ततोऽप्यल्पविषयो वर्तमानपर्यायमात्रविषयत्वात् । व्यवहारस्तु त्रिकालविषयत्वाद्बहुविषय । ऋजुसूत्रे लिगादिभेदे सत्यपि नार्थभेद स्वीक्रियतेऽत शब्दनयस्तस्मादल्पविषय. । ऋजुसूत्रस्तु बहुविषय । पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थ प्रतिपादयत: शब्दाद् बहुविषयात् समभिरूढ सूक्ष्मविषय: । स हि पर्यायभेदेन भिन्नमर्थं व्यनक्ति । क्रियाभेदेऽपिचाभिन्नमर्थ कथयत समभिरूढान्नेवभूतो बहुविषय तस्य ततोऽल्पविषयत्वात् । एते नया गुणप्रधानतया परस्परतंत्रा· सम्यग्दर्शनहेतवो भवन्ति । एतच्च सर्वं नयाना प्ररूपणमागमभाषया व्यवहारापेक्षया ।

सगृहीत अर्थ मे भेद करता है । सग्रह नय बहु विषयक है क्योकि वह सन्मात्रग्राही है । ऋजूसूत्र व्यवहार से भी अल्प विषय वाला है क्योंकि वह मात्र वर्तमान पर्याय को विषय करता है । व्यवहार नय तो तीनों कालो को विषय करता है अत· महा विषयक है । ऋजूसूत्र नय लिगादि भेद होने पर भी अर्थभेद स्वीकार नही करता इसलिए शब्द नय उसमें अल्प विषय वाला है ही । ऋजूसूत्र तो उससे महा विषयक है । पर्यायवाची शब्दो में भेद होने पर भी अर्थ भेद न मानने वाले शब्द नय से पर्यायवाची शब्दों से अर्थभेद की कल्पना करने वाला समभिरूढ नय सूक्ष्म विषय वाला है । शब्द प्रयोग मे क्रिया की चिन्ता नही करने वाले समभिरुढ से क्रिया काल मे ही उस शब्द का प्रयोग मानने वाला एवंभूत अल्पविषयक है । ये सातों नय गुण प्रधान होने से एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन के कारण होते है । सातों नयो का यह कथन आगमिक भाषा में व्यवहार नय की अपेक्षा से है ।

अध्यात्मभाषया तु मूलनयौ द्वौ, निश्चयो व्यवहारश्चेति। तत्र निश्चयोऽभेदविषयो, व्यवहारस्तु भेदविषयः। निश्चयोऽपि द्विविधः, शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो, यथा केवलज्ञानादयो जीवः। सोपाधिकतदभेदविषयकोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव। व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुभेदविषयः सद्भूतव्यवहारः। भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः। सद्भूतव्यवहारोऽपि द्विविधः, उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्र सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। निरूपाधिक-

---

अध्यात्म शास्त्र मे तो मूल नय दो है– निश्चय और व्यवहार। निश्चय नय अभेद को विषय करता है तो व्यवहार भेद को विषय करता है अर्थात् निश्चय नय पर निरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है तो व्यवहार नय पर सापेक्ष पर्यायों को ग्रहण करता है। निश्चय नय भी दो प्रकार का है–शुद्ध निश्चय अशुद्ध निश्चय। स्वाभाविक गुण गुणी के अभेद को विषय करने वाला शुद्ध निश्चय है जैसे जीव को केवल दर्शन, केवल ज्ञान का कर्त्ता कहना। पर सापेक्ष गुण गुणी के अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चय है जैसे जीव को क्षायोपशमिक मतिज्ञानादिक ज्ञानों का कर्त्ता कहना। व्यवहार भी दो प्रकार का है–सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार। वस्तु में अपने गुणों की दृष्टि से भेद करना सद्भूत व्यवहार है। वस्तु में अन्य द्रव्य के गुणों की दृष्टि से भेद करना असद्भूत व्यवहार है। सद्भूत व्यवहार के भी दो भेद हैं–उपचरित और अनुपचरित। गुण गुणी के परनिमित्तक भेद को विषय करना वह उपचरित सद्भूत व्यवहार है–जैसे जीव के मतिज्ञानादिक गुण। गुण

गुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा.। असद्भूतव्यवहारोऽपि द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्राऽसंश्लिष्टवस्तुसंबंधविषयः प्रथमो यथा देवदत्तस्य धनम्। संश्लिष्टवस्तुसंबन्धगोचरश्च द्वितीयो यथा जीवस्य शरीरम्।

स्याद्वादनिरूपणम्

वाद· सिद्धान्त·। स्यात्प्रधानो वादः स्याद्वाद·। स्यादित्ययं निपातोऽनेकान्तवाचको द्योतको वा क्वचित् प्रयुज्यमानस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत्। स्याद्वादो हि सर्वथैकान्तत्यागात्

गुणी के स्वनिमित्तक भेद को विषय करना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है–जैसे जीव के केवल ज्ञानादि गुण। असद्भूत व्यवहार के भी उपचरित और अनुपचरित दो भेद हैं। उनमें भिन्न वस्तु के सबन्ध को विपय करना पहला है–जैसे देवदत्त का धन। अभिन्न वस्तु के सम्बन्ध को विषय करना दूसरा है जैसे जीव का शरीर।

स्याद्वाद निरूपण

वाद का अर्थ सिद्धान्त है। स्यात् अर्थात् अपेक्षा प्रधान सिद्धान्त को स्याद्वाद कहते है। 'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते है तो वाचक भी। यहां यह निपात अनेकान्त का वाचक या द्योतक है। जहा कहीं भी यह स्यात् शव्द विशेषण रूप से प्रयुक्त होता है वहा वह उस पदार्थ या तत्त्व को अवयव रूप से सूचित करता है। प्रायः करके निपातो का स्वभाव ऐसा होता है–एवकारादि की तरह, 'निश्चय' रूप से यह स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का परिहार करके सप्तभंग नय

सप्तभंगनयापेक्ष. स्वभावपरभावाभ्या वस्तुनः सदसदादिव्य-वस्था प्रतिपादयति । वस्तु हि न केवल सत्, नापि केवलमसत्, अपि तु सदसदात्मक द्रव्यपर्यायात्मक सामान्यविशेषात्मकं नित्यानित्यात्मकमस्ति । वस्तुन उभयात्मकत्वं तद्विस्तरतः सप्तभगात्मकत्व च प्रतीतिसिद्धं ।

स्याद्वादो हि जैनागमस्य बीज । तत्र वस्तुव्यवस्थाया सर्वत्रा-प्याप्रतिहतव्यापारस्वीकारात् । एतदवलम्बनेनासत्यमपि सत्यं स्यात् । एतत्तिरस्कारे तु सत्यमप्यसत्यमिति । निराग्रहवादोऽयं सर्वान् विग्रहान् निराकर्तुं क्षमः । एतदुपयोगेन असमीचीनवद् दृश्यमानान्यपि समीचीनता भजन्ते । एतदभावे तु न कदाचिदपि सत्यदर्शन भवेत् । यथा षडन्धाः हस्तिनः पुच्छपादमस्तकाद्यव-यवान् परिगृह्य तस्यान्यथाकल्पनां चक्रुस्तथैव स्याद्वादचक्षुर्विर-

---

की अपेक्षा स्वभाव परभावों से वस्तु के सत् असत् वगैरह भावों का कथन करता है। वस्तु मात्र सत्स्वरूप नहीं है और न असत् स्वरूप ही, वल्कि सत असत् रूप, द्रव्य पर्याय रूप, सामान्य विशेष रूप और नित्य अनित्य रूप है। वस्तु का उभयात्मक होना और विस्तार से सप्तभगात्मक होना अनुभव सिद्ध है।

वस्तुत. स्याद्वाद जैनागम का वीज है। जैनागम मे वस्तु की सिद्धि करते हुए इस स्याद्वाद का सव जगह अवाध सचार स्वीकार किया है। स्याद्वाद के प्रयोग से असत्य भी सत्य हो जाता है और इसके दुरदुराने पर सत्य भी असत्य हो जाता है। यह सिद्धान्त आग्रहवाद से रहित है अर्थात् इसमें हठवाद का स्थान नही, इसलिए यह सव झगड़े-टन्टो को मिटाने में समर्थ है। इसको प्रयोग में लाने से बुरे से दिखलाई पड़ने वाले भी भले दिखाई देने लगने हैं और इसके अभाव में तो कभी सत्य का साक्षात्कार ही नही हो सकता। जिस प्रकार छह अन्धों ने हाथी की पूछ पैर माथा वगैरह अगो को पकड कर

हिता' पदार्थं याथार्थ्येन ज्ञातुमशक्नुवन्तस्तस्यान्यथाकल्पनं विदधति। न चास्य स्याद्वादस्यानेकान्तवादापरनामधेयस्य केवल शास्त्रेष्वेवोपयोगो। वस्तुतस्तु इम विना लोकस्य व्यवहारोऽपि न सर्वथा सम्पादनीयो भवेत् तदपेक्षत्वात् तस्य।

एकस्मिन्न्नेव पुरुषे युगपदेव पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितामहत्वपौत्रत्वमातामहत्वनेप्तृत्वज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादयोऽनेके धर्मा विभिन्नपुरुषापेक्षया वर्तन्ते, तादृशो व्यवहारश्चापि भवति। यद्ययमाग्रह' स्यात् यः पिता स पितैव तदा तु तस्य सत्ताऽपि सदिग्धा भवेत्। एकस्मिन्नेव काले आमलकमाम्रापेक्षया सूक्ष्मं, बदरापेक्षया च स्थूलं प्रतीयते। रङ्को मनुष्यत्वापेक्षया राजसदृश. शासकशासितापेक्षया च तयोर्महान् भेद' इति सर्वत्राने-

---

उसका स्वरूप अन्यथा समझा था उसी तरह जिनके स्याद्वाद रूपी चक्षु नहीं, वे पदार्थं को ठीक ठीक नही जानते हुए उसके स्वरूप को विपरीत समझते हैं। अनेकान्तवाद जिसका दूसरा नाम है ऐसे इस स्याद्वाद का मात्र शास्त्रों में ही उपयोग होता हो–ऐसा नही है। वास्तव में इसके विना तो लोक-व्यवहार भी ठीक सम्पन्न नही हो सकता, क्योकि लोक-व्यवहार में स्याद्वाद की पैंड पैंड पर जरूरत है।

एक ही पुरुष में एक ही समय भिन्न भिन्न पुरुषों की अपेक्षा अनेक धर्म रहते है। जैसे वह पिता भी हैं तो पुत्र भी, मामा भी है तो बहनजा भी, बाबा भी है तो पोता भी, नाना भी है तो दोहता भी, बडा भी है तो छोटा भी और इसी तरह व्यवहार भी चलता है। अगर यह हठ हो कि जो पिता है वह पिता ही होगा तव तो उसका अस्तित्व ही संशयपूर्ण हो जायगा। एक ही समय मे आंवला आम की अपेक्षा सूक्ष्म है तो बेर की अपेक्षा से स्थूल है। दीन भी मनुष्यपने की अपेक्षा राजा के समान है लेकिन राजा और प्रजा की अपेक्षा से उन दोनो में महान्

कान्तशासनं लोकव्यवहारे प्रतीतिसिद्धम् । तथैव शास्त्रे पदार्थानां नित्यत्वानित्यत्वादिविचारावसरेऽस्योपयोगो भवत्येवानाहूतोऽपि । न खलु यो द्रव्यापेक्षया नित्यः स पर्यायापेक्षयाऽपि नित्यः स्यात् । अन्यथा सुवर्णवत् तन्निर्मिताभूषणस्यापि नित्यत्वं भवेत् । तथैव यः पर्यायापेक्षयाऽनित्यः स न द्रव्यापेक्षयाऽपि अनित्योऽन्यथाऽऽभूषणवत् काञ्चनस्याऽपि विनाशो भवेत् । वस्तु सामान्यात्मना नोदेति, विशेषात्मना तु व्येति उदेति च । न खलु काञ्चनं काञ्चनत्वेन समुत्पद्यते, आभूषणत्वेन तु समुत्पद्यते विनश्यति च । तत एवोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयमेकत्र युगपत् संभवति । घटमौलिसुवर्णार्थी जनोऽयं घटनाशमौल्युत्पादसुवर्णस्थि-

---

अन्तर है–इस प्रकार लोक व्यवहार में हर जगह अनेकान्तवाद का शासन अनुभव सिद्ध है । लोक व्यवहार की तरह उस स्याद्वाद का उपयोग शास्त्रों में भी पदार्थों के नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों का विचार करते हुए विना बुलाए भी होता ही है । क्योंकि जो द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वह वास्तव में पर्याय की अपेक्षा कभी नित्य नही हो सकता । यदि हो जावे तो सोने की तरह उसके द्वारा बने हुए गहने भी नित्य सिद्ध होंगे । इसी प्रकार जो पर्याय की अपेक्षा अनित्य है वह द्रव्य की अपेक्षा भी अनित्य नहीं हो सकता–नही तो गहने की तरह स्वर्ण के भो विनाश का अवसर समुपस्थित होगा । वस्तु सामान्य रूप से पैदा नही होती लेकिन विशेष रूप से तो पैदा भी होती हैं और नष्ट भी होती है । निश्चय पूर्वक स्वर्ण स्वर्णपने से पैदा नही होता, गहने रूप से तो पैदा भी होता है और नष्ट भी होता है । इसीलिए एक ही वस्तु में एक साथ उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों घटित होते हैं । घटार्थी, मुकुटार्थी तथा सुवर्णार्थी व्यक्ति स्वर्ण घट के नाश होने पर मुकुट के उत्पाद होने पर,

तिषु सहेतुकमेव शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य याति । गोरसत्वेऽपि दधि-पयसोर्भिन्नत्वात् पयोव्रतो दधि नात्ति, नापि दधिव्रतः पयोऽत्ति । अगोरसव्रतस्तुद्वयमपि नात्ति, तस्मात्तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वान्नित्यानित्यात्मकत्वमिति । तथा चोक्तं स्वामिसमन्तभद्राचार्येण-

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्,
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति न दधिव्रतः,
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।

तथा स्वर्ण के ध्रौव्य रहते हुए क्रमशः शोक, आनन्द तथा माध्यस्थ को सहेतुक ही प्राप्त होते है । गोरस के भी दही दूध से भिन्न होने से जिसके दूध खाने का व्रत है, वह दही नही खाता, जिसके दही खाने का व्रत है वह दूध नही खाता और जिसके गोरस ही का त्याग है वह न दूध खाता और न दही खाता । इसलिये तत्त्व के त्रयात्मक होने से नित्यानित्यपना है । स्वामी समन्तभद्राचार्य ने भी यही कहा है:—

"जब सोने के कलश को गलाकर मुकुट बनाया गया तो कलशार्थी को दु.ख हुआ, मुकुट चाहने वाले को हर्ष हुआ और जो मात्र सुवर्णाकाक्षी था उसे माध्यस्थ भाव रहा-यह सब सहेतुक है और वह कारण यह है कि वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक है ।

जिस पुरुष को दूध पोने का व्रत है वह दही को नही खायगा और जिसको दही खाने का व्रत है वह दूध का पान नही करेगा और जिसे गोरस के त्याग का व्रत है वह न दूध लेगा और न दही, क्योंकि दोनो ही अवस्थाओ मे गोरस है ही । इमसे ज्ञात होता है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ।

सप्तभंगीविवेचनम्

प्रमाणनयैरधिगम इत्यनेन द्विविधोऽधिगम प्रतिपादित', प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति। साकल्येन तत्त्वाधिगम. प्रमाणात्मक' देशतस्तत्त्वाधिगमो नयात्मकः। अयं द्विविधोऽपि भेदः सप्तधा प्रवतते विधिप्रतिषेधप्राधान्यात्। इयमेव च प्रमाण-सप्तभगी नयसप्तभंगीति च व्यवह्रियते। सप्ताना भङ्गानां-वाक्यानां-समाहार-समूह सप्तभगीति तदर्थ.। तानि च वाक्यानि-स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घट., स्यादस्ति नास्ति च घट., स्यादवक्तव्य एव घट., स्यादस्ति चावक्तव्यश्च,

---

सप्त भंगी-विचार

उमास्वामी ने "प्रमाणनयैरधिगम." इस सूत्र के द्वारा दो प्रकार का अधिगम बतलाया है-प्रमाणात्मक और नयात्मक। तत्त्वों के सम्पूर्ण ज्ञान को प्रमाणात्मक अधिगम कहा है तो एक देश तत्त्वाधिगम को नयात्मक अधिगम बतलाया है। विधि और प्रतिषेध की प्रधानता से यह दो प्रकार का भेद भी सात सात तरह से प्रवृत्त होता है। और यही प्रमाण सप्त-भंगी और नय सप्त-भंगी के नाम से कही जाता है। सात भंगो के—वाक्यों के समाहार अर्थात् समूह को सप्तभंगी कहते हैं। वे सात वाक्य इस प्रकार हैं-(१) स्यादस्त्येव घट' अर्थात् घट किसी अपेक्षा से है ही। (२) स्यान्नास्त्येव घटः अर्थात् घट किसी अपेक्षा से नही ही है। (३) स्यादस्ति नास्ति च घटः अर्थात् घट किसी अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप ही है (४) स्यादवक्तव्य एव घटः अर्थात् घट किसी अपेक्षा से कहा ही नही जा सकता (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घडा

स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च। इमे सप्तापि भंगा एकस्मिन्नेव वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनया प्रश्नवशादवतारयितुं शक्यन्ते। तथा चाहुरकलङ्कदेवाः—"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।"

ननु प्रश्नानां सप्तविधत्वं कथमिति चेत्, जिज्ञासानां सप्तविधत्वात्। ननु कुतः सप्तधैव जिज्ञासेतिचेत्, सप्तधा संशयानामुत्पत्तेः। संशयानां सप्तविधत्वं तु तद्विषयीभूतधर्माणां सप्तविधत्वात्। तादृशधर्माश्च कथञ्चित्सत्त्वं, कथंचिदसत्त्वं, क्रमार्पितोभयं, अवक्तव्यत्वं, कथंचित्सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्वं, कथंचिद-

---

किसी अपेक्षा से अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप ही है (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घट किसी अपेक्षा से नास्ति रूप और अवक्तव्य ही है (७) स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् घट किसी अपेक्षा से अस्ति नास्ति रूप और अवक्तव्य ही है। ये सातों भंग एक ही वस्तु मे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा रहित विधि निषेध रूप कल्पना के द्वारा प्रश्न होने पर प्रयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसा ही अकलंक देव ने भी कहा है:—एक ही पदार्थ मे प्रश्न होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभगी कहलाती है।

प्रश्न सात ही क्यों तो उत्तर है कि जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है। जिज्ञासा भी सात ही क्यो—इसलिए कि सशय सात ही प्रकार के होते है और सशय के भी सात ही प्रकार का जवाब सशय के विषयभूत वस्तु धर्मो का सात ही होना है। वस्तु के वे सात धर्म निम्न प्रकार है—कथचित्सत्त्व (किसी अपेक्षा अस्तित्व) कथचिदसत्व (किसी अपेक्षा नास्तित्व) क्रमार्पितोभय (क्रम से दोनों की विवक्षा होने पर अस्तिनास्तित्व)

सत्त्वविशिष्टावक्तव्यत्व, क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वम् चेति सप्तैव। एव च दर्शितधर्मविपयका सप्तैव संशयाः। तथा चोक्तं-

"भङ्गाः सत्त्वादयः सप्त, संशयाः सप्त तद्‌गताः।
जिज्ञासाः सप्त, सप्त स्युः प्रश्नाः सप्तोत्तराण्यपि।"

अत्र घट. स्यादस्त्येव वा नवेति कथंचित्सत्त्वतदभावकोटिकः प्रथमः संशयः।

ननु कथंचित्सत्त्वस्याभावः कथंचिदसत्त्व, तस्य न संशय-

अवक्तव्यत्वं (युगपत् कहा नहीं जा सकने से अवक्तव्यत्व) कथंचित्सत्वविशिष्टावक्तव्यत्वं (प्रथम समय में अस्ति की और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर अस्ति अवक्तव्यत्व) कथंचिदसत्वविशिष्टावक्तव्यत्वं (प्रथम समय में नास्ति और द्वितीय समय मे अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर नास्ति अवक्तव्यत्व) क्रमार्पितोभयविशिष्टावक्तव्यत्वम् (प्रथम समय में अस्ति, द्वितीय समय मे नास्ति और तृतीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर अस्ति नास्ति अवक्तव्यत्व)। इस प्रकार सातों संशयों का विषयभूत धर्म निरूपण किया। कहा भी है:—

वाक्य में सत्व वगैरह सप्तभग इसी कारण से है कि उनमे स्थित सशय भी सात होते हैं और संशय भी सात इसलिए है कि जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है। जिज्ञासा के सप्त भेदों से ही सात प्रकार के प्रश्न तथा उत्तर भी होते है।

यहाँ पर 'घट है या नही' यह घट के विषय मे सत्व तथा उसके अभाव विपयक प्रथम संशय है।

शंका—कथंचित् सत्व का अभाव कथंचित् असत्ता रूप ही है-वह सशय का विषय नही हो सकता क्योंकि कथंचित् सत्त्व

विपयत्वसंभव:, कथचित्सत्त्वेन सह तस्य विरोधाभावात्, तथा च कथ प्रथम. सशय इति चेत्—दर्शितसंशये कथञ्चिदस्तित्व-सर्वथाऽस्तित्वयोरेव कोटिता। तयोश्च परस्परं विरोधान्नोक्तानुपपत्ति:। एवं द्वितीयादिसंशयप्रकारा अपि ज्ञातव्या:।

ननु धर्माणां सप्तविधत्वसिद्धयभावे नैतत् सर्वमुपपन्नं भवति। तत्सप्तविधत्वसिद्धिश्च न संभवेत्। प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमाक्रमार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धे: सप्तविधधर्मनियमाभावात्, इति चेन्न, क्रमाक्रमार्पितयो: प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीते.। स्यादस्ति घट इत्यादौ घट-

---

के साथ उसका विरोध नही है। किसी विवक्षा से सत्ता और किसी विवक्षा से असत्ता भी रह सकती है। तो जब कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध ही नहीं तो 'घट: स्यादस्त्येव न वा' यह पहला संशय कैसे उत्पन्न होगा ?

समाधान—पूर्व दर्शित संशय में कथचित् अस्तिता और सर्वथा अस्तिता में दो कोटि है और उन दोनों धर्मो का परस्पर विरोध होने से संशय हो सकता है। इसी तरह दूसरे तीसरे आदि संशय के प्रकारों को भी जान लेना चाहिए।

शंका—यह सब तभी ठीक बैठ सकता है जबकि धर्मो के सात ही भेद सिद्ध हो परन्तु धर्मो के सात भेद संभव नही है। प्रथम द्वितीय धर्म के सदृश क्रम तथा अक्रम से अर्पित प्रथम तृतीय आदि धर्मों से सप्त धर्म से भिन्न अन्य धर्मों की सिद्धि हो जाने से सात ही प्रकार के धर्म है- यह नियम नही हो सकता।

समाधान-ऐसा कहना ठीक नही; क्योकि क्रम और अक्रम से अर्पित प्रथम तृतीय धर्मों की योजना से धर्मान्तर की प्रतीति नही होती। "स्यादस्ति घट:" घट किसी अपेक्षा से है इत्यादि

त्वावच्छिन्नसत्त्वद्वयस्यासभवात् । मृण्मयत्वाद्यवच्छिन्नसत्त्वान्तरस्य संभवेऽपि दारुमयत्वाद्यवच्छिन्नस्यापरस्यासत्त्वस्यापि संभवादपरधर्मसप्तकसिद्धे सप्तभग्यन्तरस्यैव संभवात्। एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयो. क्रमाक्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमपि निरस्तम् । एकरूपावच्छिन्ननास्तित्वद्वयासभवात् ।

नन्वेव प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयो कथं धर्मान्तरत्वम् । अवक्तव्यत्व हि सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयं, तथा च यथा क्रमार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयस्मिन्नस्तित्वस्य योजनं न सभवति अस्तित्वद्वयाभावात्; तथा सहार्पि-

---

वाक्य में घटत्व धर्म सहित घट के दो सत्ता का होना असंभव है । मिट्टी युक्त घट के अन्य सत्ता का सभव होने पर भी काष्ठ आदि रचित अन्य घट की असत्ता का भी संभव होने से उसी प्रकार के अन्य सात धर्म सिद्ध हो जायगे । इस तरह अन्य सप्त भंगी का सिद्ध होना संभव है न कि सप्त धर्मो से भिन्न अलग धर्म । इस प्रकार क्रम तथा अक्रम से अर्पित द्वितीय तृतीय धर्मो की योजना से अन्य धर्म सिद्धि का भी खंडन होगया । क्योकि एक पदार्थ विषयक दो सत्य के समान एक रूपावच्छिन्न एक पदार्थ सम्बन्धी दो नास्तित्व का होना असंभव है ।

शका—ऐसा मानने पर तो प्रथम, चतुर्थ, द्वितीय, चतुर्थ तथा तृतीय चतुर्थ धर्म मिलकर धर्मान्तर कैसे सिद्ध होगे । क्योंकि अवक्तव्य भग के साथ, पहला दूसरा तथा तीसरा भग मिलाने से ही सात भंग वनते है–अन्यथा चार ही रह जाते है । जैसे क्रम से अर्पित अस्तित्व नास्तित्व रूप मे दूसरे अस्तित्व का कोई प्रयोजन नही है; क्योंकि एक पदार्थ विषयक दो सत्त्व का पूर्वोक्त रीति के अनुसार असंभव है । ऐसे ही साथ अर्पित उभय रूप में नास्तित्व भी नही रह सकता ।

तोभयस्मिन्नपीति चेन्न । यतो अवक्तव्यत्वं सहार्पितोभयमेव न किन्तु सहार्पितयोरस्तित्वनास्तित्वयो: सर्वथा वक्तुमशक्यत्वरूप धर्मान्तरमेव । तथा च सत्त्वादिना सहितमवक्तव्यत्वादिक धर्मान्तर प्रतीतिसिद्ध ।

ननु–अवक्तव्यत्व यदि धर्मान्तरं, तर्हि वक्तव्यत्वमपि धर्मान्तर स्यात् तथा चाष्टमस्य वक्तव्यत्वधर्मस्य सद्भावेन तेन सहाष्टभगी स्यान्न सप्तभंगीति चेन्न—

सामान्येन वक्तव्यत्वस्यातिरिक्तस्याभावात् । सत्त्वादिरूपेण-वक्तव्यत्व तु प्रथमभगादावेवान्तर्भूतम् । यदि वक्तव्यत्वं नाम कश्चनातिरिक्तो धर्म: स्वीक्रियेत तदा वक्तव्यत्वाऽवक्तव्यत्वाभ्या विधिप्रतिषेधकल्पनाविपयाभ्यां सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामिव सप्तभग्यन्तरमेव प्राप्नोतीति न सत्त्वाऽसत्त्वादि–सप्तविधधर्मव्याघात-प्रसङ्ग. ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही । अवक्तव्यत्व के साथ योजित अस्ति नास्तित्व उभय रूप ही नही है । किन्तु सह अर्पित सत्ता तथा असत्ता इन दोनो धर्मो का सर्वथा कथन अशक्यत्व रूप धर्मान्तर है क्योकि एक साथ दोनो धर्मो का कथन कभी संभव नही । इस प्रकार सत्त्वादि के साथ अवक्तव्यत्व वगैरह अनुभव से धर्मान्तर सिद्ध हो जाते है ।

शंका—यदि अवक्तव्यत्व धर्मान्तर है तो वक्तव्यत्व भी धर्मान्तर होगा और ऐसी सूरत में आठवां वक्तव्यत्व धर्म के सद्भाव होते हुए अष्ट भंगी सिद्ध होगी न कि सप्त भगी ।

समाधान—ऐसा नही हो सकता । सामान्य रूप से वक्तव्यत्व धर्म अलग नही है और सत्त्व रूप में वक्तव्यत्व प्रथम भंगादि में ही अन्तर्भूत है और वक्तव्यत्व को अलग धर्म भी मानो तो सत्व और असत्व के समान विधि प्रतिषेध को विषय करने वाले वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व धर्मो से अन्य सप्त भगी वन जायगी । इस तरह सत्व असत्व आदि सात प्रकार के धर्म का व्याघात नहीं होगा ।

नन्वेनमधिकसंख्याव्यवच्छेदेऽपि न्यूनसंख्याव्यवच्छेदः कथं सिद्धयेत् ? सत्त्वाऽसत्त्वयोर्भेदाभावात्। यत् स्वरूपेण सत्त्व तदेव पररूपेणाऽसत्त्वं तथा च न प्रथमद्वितीयभंगौ घटेते ततस्तृतीयादिभगाभावात् कुतः सप्तभंगीतिचेत् —

अत्रोच्यते स्वरूपाद्यवच्छिन्नसत्त्वं पररूपाद्यवच्छिन्नमसत्त्वमित्यवच्छेदकभेदात्तयोर्भेदसिद्धेः, अन्यथा स्वरूपेणेव पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसंगात्। पररूपेणेव स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्रसंगात्। एवमेवेतरभंगेष्वपि भिन्नत्वं ज्ञातव्यं। नहि सत्त्वमेव वस्तुनः स्वरूप, स्वरूपादिभिः सत्त्वस्येव पररूपादिभिरसत्त्वस्यापि प्रति-

---

शका—इस प्रकार सात संख्या से अधिक संख्या का निराकरण हो जाने पर भी न्यून संख्या का प्रसंग तो रहेगा ही क्योंकि सत्त्व तथा असत्त्व का भेद सिद्ध नही होता। जो पदार्थ स्वचतुष्टय से सत्त्व रूप है वही परचतुष्टय से असत्त्व रूप है। अत सत्त्व रूप माना तो असत्त्व की जरूरत नही और असत्त्व मानों तो सत्त्व की दरकार नही। इस प्रकार जब प्रथम तथा द्वितीय भग ही नही वनते तो तृतीयादि भंग वनेगे ही कैसे अतः सप्त भंगी कैसे सिद्ध हो सकती है।

समाधान—इस शंका का उत्तर यह है कि स्वरूप आदि से सयुक्त सत्त्व कहाता है और पररूप आदि से सयुक्त असत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार स्वरूपादित्व तथा पररूपादित्व इन दोनो पृथक् पृथक् धर्मो के भेद से सत्त्व तथा असत्त्व में भेद सिद्ध है। अन्यथा स्वरूप की तरह पररूप से भी सत्त्व का प्रसंग उपस्थित होगा अथवा पररूप से असत्त्व के समान स्वरूप से भी असत्त्व कहा जाने लगेगा। इसी तरह अन्य भंगों मे भी भिन्नता जाननी चाहिए। वस्तु का स्वरूप मात्र सत्त्व नही है; क्योकि स्वरूपादि से सत्त्व की तरह पररूपादि से असत्त्व की भी प्रतीती होती है और न मात्र असत्त्व ही वस्तु

पयो: । नाप्यसत्त्वमेव, स्वरूपादिभि: सत्त्वस्यापि प्रतीतिसिद्धत्वात् । नापि तदुभयमेव, तदुभयविलक्षणस्यापि जात्यन्तरस्य वस्तुनोऽनुभूयमानत्वात् । यथा दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवं पानकं केवलं दधिगुडाद्यपेक्षया जात्यन्तरत्वेन पानकमिदं सुस्वादु सुरभीति प्रतीयते । तथा च विविक्तस्वभावानां सप्तधर्माणां तद्विषयसंशयजिज्ञासादिक्रमेण सप्तोत्तररूपा सप्तभंगी सिद्धेति ।

इयं च सप्तभंगी द्विविधा, प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगी चेति । किं पुन: प्रमाणवाक्यं किं वा नयवाक्यमिति चेत् :—

एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वं । तदुक्तं—"एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेश ।"

का स्वरूप है क्योंकि स्वरूपादि से सत्त्व का भी अनुभव होता है । और सत्त्व, असत्त्व, उभय भी वस्तु का स्वरूप नही है क्योंकि उभय रूप से विलक्षण स्वरूप भी प्रतीति मे आता है । जैसे दही और गुड मे मिर्च, इलायची, केसर तथा लोंग के सयोग से एक अपूर्व ही पानक रस उत्पन्न होता है जो केवल दही गुडादि की अपेक्षा से विलक्षण स्वादवाला तथा सुगन्ध युक्त होता है । इससे सातो धर्मों के भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले सिद्ध हो जाने से उन धर्मों के विषयभूत संशय जिज्ञासा वगैरह के क्रम से सात उत्तर रूप सप्तभगी सिद्ध हुई ।

यह सप्त भगी दो प्रकार की है-प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी । यह पूछा जाने पर कि प्रमाण वाक्य किसे कहते है और नय वाक्य क्या है तो कहते है-एक धर्म का ज्ञान कराते हुए सम्पूर्ण धर्मस्वरूप वस्तु का ज्ञान कराने वाले वाक्य को सकलादेश कहते है । ऐसा ही अन्य आचार्यों ने भी कहा है-वस्तु के एक धर्म के द्वारा शेष सब वस्तु के स्वरूपो का सग्रह करना सकलादेश है ।

अस्यायमर्थं. यदाऽभिन्नं वस्तु एकगुणरूपेणोच्यते गुणिनां गुणरूपमन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसभवात् तदा सकलादेश:। एको हि जीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य गुणस्य रूपेण अभेदवृत्या अभेदोपचारेण वा निरंश: समस्तो वक्तुमिष्यते। विभागनिमित्तस्य तत्प्रतियोगिनो गुणान्तरस्याविवक्षितत्वात्। कथमभेदवृत्ति., कथ चाभेदोपचारश्च इतिचेत्-द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेका दभेदवृत्ति.। पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिकरेऽप्येकत्वारो पादभेदोपचार: इति।

अभेदवृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविपयबोधजनकवाक्यं विकलादेश:।

मतलब यह है कि जब अभिन्न वस्तु एक गुण रूप से कही जाती है तब वस्तु का गुण रूप के बिना विशेप ज्ञान न हो सकने से एक धर्म द्वारा कथन करना ही सकलादेश है; क्योकि एक ही जीव द्रव्य अस्तित्व आदि सब धर्मों में एक धर्म रूप से अभेदवृत्ति के कारण अथवा अभेद के उपचार से अंश रहित होता हुआ सम्पूर्ण वस्तु का कथन करना ही अभीष्ट है; क्योंकि विभाग के कारणभूत अन्य अन्य धर्मों का कथन करना इष्ट नही है। अभेदवृत्ति या अभेदोपचार कैसे है तो उत्तर है कि जब द्रव्यार्थिक नय का आश्रय लिया जाता है तो द्रव्यत्व रूप से अभेद होने के कारण अभेदवृत्ति है; क्योकि द्रव्यत्व धर्म से सब द्रव्यो का अभेद है। पर्यायार्थिक नय के आश्रय से देखा जाय तो पर्यायो में परस्पर भेद होने पर भी द्रव्यत्व स्वरूप एकत्व का अध्यारोप होने से अभेद का उपचार है।

अभेदवृत्ति या अभदोपचार का आश्रय न लेते हुए वस्तु सम्बन्धी एक धर्म का वोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते है।

तत्र स्वरूपादिभिरस्तित्ववन्नास्तित्वमपि स्यादित्यनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थं स्यादस्त्येवेति एवकारः कर्तव्यः । तेन स्वरूपादिभिरस्तित्वमेव न नास्तित्वमित्यवधार्यते । स चैवकारस्त्रिविधः अयोगव्यवच्छेदबोधकः, अन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकश्चेति । तत्र विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधको यथा शङ्खः पाण्डुर एव । विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधको–यथा पार्थ एव धनुर्धरः । क्रियासङ्गतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधको यथा–नीलं सरोज भवत्येव । स्यादस्त्येव घट इत्यादौ यद्यपि क्रियासङ्गतैवकारस्तथापि नात्यन्तायोगव्यवच्छेदकः, अनिष्टापत्तेः । कस्मिंश्चिद् घटेऽस्तित्वस्याभावेऽपि तादृशप्रयोगसंभवात् । अतोऽत्र क्रियासङ्गतत्वेऽपि अयो-

---

प्रथम भंग मे जिस तरह स्वचतुष्टय से अस्तित्व का बोध होता है वैसे ही नास्तित्व का बोध न हो जाय इस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए एवकार का प्रयोग किया गया है । इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्वरूप आदि से वस्तु का अस्तित्व ही है न कि नास्तित्व । वह एवकार तीन तरह का है–पहला अयोग व्यवच्छेद बोधक, दूसरा अन्ययोग व्यवच्छेद बोधक और तीसरा अत्यन्तायोग व्यवच्छेद बोधक । इनमे विशेषण के साथ जुडने वाला एवकार अयोग व्यवच्छेद बोधक है जैसे कि शंख श्वेत ही है । विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार अन्ययोग व्यवच्छेद बोधक होता है जैसे धनुर्धर अर्जुन ही है । और क्रिया के साथ प्रयुक्त होने वाला एवकार अत्यन्तायोग व्यवच्छेद-बोधक है, जैसे नील कमल होता ही है । "स्यादस्त्येव घट." इस भंग मे यद्यपि क्रिया-सगत एवकार है तो भी वह अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक नही है; क्योकि अनिष्ट की आशंका है । किसी घड़े मे अस्तित्व के न होते हुए भी इस प्रकार के प्रयोग की सभावना है । इसलिए प्रथम भंग में एवकार के क्रिया संगत

गव्यवच्छेदकैवकार: स्वीकृत: । ज्ञानमर्थं गृह्णात्येवेत्यादौ क्रिया-सङ्गतत्वेऽपि तादृशैवकारस्वीकारात् ।

स्याच्छब्दस्य चानेकान्तविधिविचारादिष्वनेकेष्वर्थेषु विद्य-मानेषु विवक्षावशादत्रानेकान्तार्थो गृह्यते । अनेकान्तत्वं नामा-नेकधर्मात्मकत्वं । न च—स्याच्छब्देनैवानेकान्तस्य बोधनेऽस्त्या-दिवचमनर्थकमितिवाच्य । स्याच्छब्देन सामान्यतोऽनेकान्तबोध-नेऽपि विशेषरूपेण बोधनार्थमस्त्यादिशब्दप्रयोगात् ।

घट. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च

होते हुए भी अयोग व्यवच्छेद बोधक ही स्वीकार किया है । कही कही पर क्रिया के साथ प्रयुक्त एवकार को भी अयोग व्यवच्छेद बोधक अर्थ में देखा जाता है । जैसे ज्ञान किसी न किसी अर्थ को ग्रहण करता ही है, इस उदाहरण में एवकार को क्रिया संगत होते हुए भी उसे अयोग व्यवच्छेद बोधक ही स्वीकार किया है ।

स्यात् शब्द के यद्यपि अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ सभव होते है तो भी वक्ता की विशेष इच्छा से यहां अनेकान्त अर्थ का ही ग्रहण किया गया है । अनेकान्त शब्द का अर्थ अनेक धर्मात्मक या अनेक धर्म स्वरूप है । यहा कोई यह कहे कि जब स्यात् शब्द से ही अनेकान्त का ज्ञान हो जाता है तो अस्ति वगैरह शब्द व्यर्थ होंगे- ऐसा कहना समीचीन नहीं; क्योंकि स्यात् शब्द से अनेकान्त का बोध सामान्य रूप से अवश्य हो जाता है फिर भी विशेष ज्ञान हेतु अस्ति आदि शब्दो का प्रयोग सार्थक है ।

शंका—घट स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नही, इसका क्या अभिप्राय है ?

नास्तीत्यस्य कोर्थं. इति चेत्, घटो घटत्वेनास्ति पटत्वेन नास्ति। मृत्द्रव्यत्वेनास्ति सुवर्णद्रव्यत्वेन नास्ति। स्वक्षेत्रादस्ति परक्षेत्रान्नास्ति। स्वकालादस्ति परकालान्नास्तीति।

ननु प्रमेयस्य किं स्वरूपं किं वा पररूपमितिचेत्-प्रमेयस्य प्रमेयत्वादिकं स्वरूपं घटत्वादिकं पररूपम्। प्रमेयं प्रमेयत्वेनास्ति घटत्वादिना नास्ति। तथैव जीवादिद्रव्याणां षण्णां शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्यास्तित्वं, तत्प्रतिपक्षं तदभावमशुद्धद्रव्यमपेक्ष्य नास्तित्वञ्चोपपद्यते। महासत्त्वरूपस्य शुद्धद्रव्यस्य सकलद्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया सत्त्वस्य विकलद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वस्य च व्यवस्थितेः। एवमेव सकलक्षेत्रकालव्यापिन आकाशस्य सकलकालक्षेत्राद्यपेक्षया सत्त्व यत्किञ्चित् क्षेत्रकालाद्यपेक्षयाऽसत्त्वं च ज्ञातव्यम्।

समाधान—अभिप्राय यही है कि घट घट रूप से है पट रूप से नहीं। मिट्टी द्रव्य रूप से है—स्वर्णद्रव्य रूप से नहीं। अपने क्षेत्र की अपेक्षा है—पर क्षेत्र की अपेक्षा नहीं। स्वकाल से है, परकाल से नहीं।

शंका—प्रमेय का क्या स्वरूप है और पररूप क्या है?

समाधान—प्रमेय का प्रमेयत्व जो धर्म है वही उसका स्वरूप है और घटत्व आदि पररूप है। इस कारण प्रमेय प्रमेयत्व स्वरूप से है और घटत्व रूप से नहीं है। उसी प्रकार जीवादिक छह द्रव्यो का भी शुद्ध सत् द्रव्य की अपेक्षा से अस्तित्व और उससे विरुद्ध अशुद्ध असत् द्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व भी सिद्ध होता है। महासत्त्व रूप शुद्ध द्रव्य के भी सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र तथा कालादिकी अपेक्षा सत्त्व की और विकल द्रव्य क्षेत्र कालादि की अपेक्षा से असत्त्व की व्यवस्था सुसंगत है। इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र-काल-व्यापी आकाश का भी सम्पूर्ण काल क्षेत्र की अपेक्षा से तो सत्त्व और अल्प द्रव्य क्षेत्र काल आदि की अपेक्षा से असत्त्व है, ऐसा जान लेना चाहिए।

ननु–अस्तित्वमेव वस्तुन. स्वरूप न पुनर्नास्तित्वं, तस्य पररूपाश्रयत्वात् । यदि पररूपाश्रितमपि नास्तित्व वस्तुन: स्वरूपं तदा पटगतरूपादिकमपि घटस्य स्वरूप भवेत् इति चेन्न; उभयस्याऽपि स्वरूपत्वे प्रमाणसद्भावात् । घटस्य स्वरूपाद्यपेक्षयाऽस्तित्व, पररूपाद्यपेक्षया च नास्तित्व प्रत्यक्षेणैवानुभूयते । अनुमानसिद्ध चैतत्—अस्तित्वं स्वभावेन नास्तित्वेनाविनाभूत विशेषणत्वात्, साधर्म्यवत् । अविनाभूतत्वं च नियमेनैकाधिकरणवृत्तित्वं । घटोऽभिधेय -प्रमेयत्वादित्यादिसाधर्म्यहेतावपि

शका अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है नास्तित्व नही; क्योंकि वह पररूप आदि के आश्रय से रहता है । यदि पररूप के आश्रित होकर भी नास्तित्व घट वस्तु का स्वरूप हो जाय तो घट मे जो रूप आदि हैं वे भी घट के स्वरूप हो जायेंगे ।

समाधान–ऐसा कहना ठीक नही । अस्तित्व और नास्तित्व दोनो ही वस्तु के स्वरूप है–इस सम्बन्ध मे प्रमाण उपलब्ध है । जैसे कि घट के स्वरूप द्रव्यत्व आदि से सयुक्त तो अस्तित्व और पररूप द्रव्यत्व आदि से संयुक्त नास्तित्व दोनों ही स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण मे आते हैं । घट अपने घटत्व रूप धर्म से है और पटत्व रूप परधर्म से नही है–ऐसी प्रतीति निराबाध होती है । अनुमान प्रमाण भी इसका सहायक है–जैसे अस्तित्व स्वभाव से अविनाभूत है–विशेषण होने से, साधर्म्य की तरह । जैसे साधर्म्य वैधर्म्य से अविनाभूत है–अर्थात् जैसे घट में मृत्तिका द्रव्य से साधर्म्य है तो उसी घट मे स्वर्ण द्रव्य से वैधर्म्य भी मौजूद है–ऐसे ही अस्तित्व भी अपने स्वभाव नास्तित्व से व्याप्त है । जिनमें अविनाभाव होता है वे धूम और अग्नि के समान एक अधिकरण मे नियम से रहते है । घट अभिधेय अर्थात् कथन के योग्य है, प्रमेय होने से–इस साधर्म्य हेतु मे भी वैधर्म्य मौजूद

वैधर्म्यमस्त्येव, अभिधेयत्वाभावाधिकरणे गगनकुसुमादौ अवृत्तिमत्त्वेन निश्चितत्व प्रमेयत्वस्य वर्तत इति तादृशहेतोर्वैधर्म्यमक्षतमिति। एवं नास्तित्वं स्वभावेनास्तित्वेनाविनाभूतं विशेषणत्वात्, वैधर्म्यवदित्यनुमानेनाऽपि तयोरविनाभावसिद्धिः।

ननु पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादिकेवलव्यतिरेकिहेतौ वैधर्म्यं साधर्म्येण विनाऽपि दृश्यते इति प्रोक्तानुमाने न दृष्टान्तसङ्गतिरिति चेन्न, केवलव्यतिरेकिहेतावपि साधर्म्यस्य घटादावेव संभवात्। पक्षभिन्न एव साधर्म्यं न पक्ष इति नियमाभावात्। इतिभङ्गद्वयम्।

ही है। इस अनुमान में अभिधेयत्व साध्य है, उसके अभाव के अधिकरण आकाश के फूल वगैरह में प्रमेयत्व हेतु का न रहना निश्चित है। इस प्रकार साध्याभाव के अधिकरण में न रहना रूप धर्म प्रमेयत्व में है इसलिए इस हेतु मे पूर्ण रूप से वैधर्म्य भी है। इसी तरह नास्तित्व अस्तित्व स्वभाव से व्याप्त है, क्योकि वह विशेषण है, जैसे वैधर्म्य। इस अनुमान के द्वारा नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभाव सिद्ध है।

शंका—पृथ्वी जल आदि से भिन्न है। क्योंकि उसमे गन्धवत्त्व है। इस केवल व्यतिरेकी हेतु मे वैधर्म्य साधर्म्य के बिना भी दिखाई पड़ता है—इसलिए कहे हुए अनुमान मे जो दृष्टान्त दिया था "वैधर्म्य के तुल्य" यह असंगत है।

समाधान—ऐसा नही है। केवल व्यतिरेकी हेतु मे भी साधर्म्य का सभव घट आदि रूप पृथ्वी मे ही है। और पक्ष से भिन्न में ही साधर्म्य चाहिए न कि पक्ष मे, ऐसा नियम तो नही है। इसलिये पृथ्वी से अभिन्न घट रूप पक्ष मे भी साधर्म्य जाने से कोई हानि नही है। इस तरह दो भग सिद्ध हुए।

घट. स्यादस्ति नास्ति चेति तृतीयः, क्रमार्पितस्वपररूपाद्य पेक्षयाऽस्तिनास्त्यात्मको घट इति। सहार्पितस्वपररूपादिविवक्षाया स्यादवाच्यो घट., सह वक्तुमशक्यत्वादिति चतुर्थभङ्गः। व्यस्तं द्रव्य सहार्पितौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादस्ति चावक्तव्य एव घट इति पचमभङ्ग.। व्यस्त पर्याय समस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यान्नास्ति चावक्तव्य एव घट इति षष्ठो भङ्गः। एवं व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायावाश्रित्य स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य एव घट इति सप्तमो भंगः।

अत्र द्रव्यमेव तत्त्वं, अतः स्यादस्तीतिभंग एक एवेति सांख्य-मत न युक्त, पर्यायस्याऽपि प्रतीतिसिद्धत्वात्। तथा पर्याय एव

किसी अपेक्षा से घट है–किसी अपेक्षा से नहीं है-यह तीसरा भंग है। क्रम से अर्पित स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा घट अस्तिनास्ति स्वरूप है। इसी प्रकार सह अर्पित स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा घट किसी अपेक्षा अवाच्य है क्योकि दोनों धर्मों का एक साथ कथन हो नहीं सकता–यह चौथा भग है। द्रव्य को पृथक् मानकर और द्रव्य पर्याय को मिला के पंचम भग अर्थात् किसी अपेक्षा से घट है और अवक्तव्य है, सिद्ध होता है। पर्याय को भिन्न मान कर, द्रव्य पर्याय को मिला कर किसी अपेक्षा से घट नही है तथा अवक्तव्य है–इस छठे भग की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अलग अलग क्रम से योजित तथा साथ योजित द्रव्य तथा पर्याय का आश्रय करके किसी अपेक्षा से है, नही भी है और अवक्तव्य है यह सातवा भंग बनता है।

इस विषय मे द्रव्य ही तत्त्व है पर्याय नही, इसलिए "पदार्थ है" यह एक भंग ही सत्य है–ऐसी साख्य-मान्यता अयुक्त है। क्योंकि घट कपाल वगैरह पर्याय भी अनुभव सिद्ध है। तथा

मस्त्वं; अतः स्यान्नास्तीतिभङ्गः एकएवेति सौगतमतमपि न युक्तियुक्तं, द्रव्यस्यापि प्रतीतिसिद्धत्वात्। एवमवक्तव्यमेव वस्तु-तत्त्वमित्यवक्तव्यैकान्तोऽपि सदामौनव्रतिकोऽहमितिवत् स्ववचनबाधितः। एवमन्येषामप्येकान्तानां प्रतीतिबाधितत्वादनेकान्तवाद एव श्रेयान्।

ननु च—अनेकान्तेऽपि विधिप्रतिषेधरूपा सप्तभंगी प्रवर्तते न वा? प्रथमपक्षेऽनेकान्तस्य निषेधकल्पनायामेकान्तः स्यादिति तत्पक्षोक्तदोषानुषङ्गः अनवस्था च। तादृशैकान्तस्याप्यपराने-

---

पर्याय ही तत्त्व है द्रव्य नहीं इसलिये "स्यान्नास्ति" नित्य पदार्थ कोई नही है—यह एक भंग ही काफी है। बौद्धों का यह मत भी तर्क विरुद्ध है; क्योकि घट कपाल आदि पर्यायो मे मृत्तिका रूप द्रव्य नित्य अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार जिनकी यह मान्यता है कि वस्तु सर्वथा अवक्तव्य रूप ही है यह अवक्तव्य एकान्तवाद भी उनके खुद के वचन से ही विरुद्ध पड़ जाता है; क्योकि वे अवक्तव्य शब्द से वस्तु को कहते हैं तो सर्वथा अवक्तव्यपना कहां रहा? जैसे कोई कहे कि मैं मौनव्रती हूँ पर शब्द बोल भी रहा है तो उसका कहना स्ववचन-बाधित है। इस प्रकार अन्य भी सर्वथा एकान्तवादियो की मान्यता अनुभव विरुद्ध होने से अनेकान्तवाद ही युक्तियुक्त है।

शंका—अनेकान्त मे भी विधि-प्रतिषेध-रूप सप्तभंगी की प्रवृत्ति है या नही। यदि है तब तो अनेकान्त के निषेध की कल्पना से एकान्त ही प्राप्त होगा; क्योकि अनेकान्त का निषेध एकान्त रूप ही होगा और उस हालत मे जो आपने एकान्त पक्ष मे दोष लगाए है वे आपको भी लगेंगे और अनवस्था दोष का प्रसंग भी बनेगा, क्योंकि जैसे एकान्त के अन्य अनेकान्त की

कान्तकल्पनया विधिप्रतिषेधयोरनिवार्य्यत्वात् । यदि सा न प्रवर्तते तर्हि निखिलं वस्तु सप्तभङ्गीसमाक्रान्तमिति सिद्धान्तव्याघात: इति चेन्न, प्रमाणनयविवक्षाभेदात्तत्राऽपि तत्प्रवृत्ते: । तथाहि—एकान्तो द्विविध: सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्तश्चेति । अनेकान्तोऽपि द्विविध: सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्तश्चेति । तत्र सम्यगेकान्तस्तावत्-प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्मकवस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तरानिषेधक: । मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्ममात्रावधारणेनान्याशेषधर्मनिराकरणपर: । एवमेकत्र वस्तुन्यस्तित्वनास्तित्वादिनानाधर्मनिरूपणप्रवण: प्रत्यक्षानुमानागमाविरुद्ध:

कल्पना करने से विधि निषेध बराबर चलेंगे और कहीं विश्राम न मिलने से अनवस्था दोष से कैसे बचा जा सकेगा ? और यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करो अर्थात् अनेकान्त में सप्त भंगी की प्रवृत्ति नहीं होती तो सम्पूर्ण वस्तु समूह सप्तभंगी न्याय से संबद्ध है-इस सिद्धान्त का व्याघात होगा ?

समाधान—ऐसा कहना सगत नही । क्योंकि प्रमाण एवं नय के भेद से अनेकान्त मे भी विधि-निषेध-कल्पना से सप्तभगी न्याय की अनेकान्त मे भी सिद्धि हो जाती है । वह सिद्धि इस प्रकार है-जैसे एकान्त के दो भेद है, पहला सम्यक् एकान्त और दूसरा मिथ्या एकान्त । इसी तरह अनेकान्त के भी दो प्रकार है-एक सम्यक् अनेकान्त और दूसरा मिथ्या अनेकान्त । सम्यक् एकान्त वह है जो अनेक धर्मात्मक पदार्थ के किसी एक धर्म का व्याख्यान करे परन्तु अवशिष्ट अन्य धर्मों का निराकरण न करे । और मिथ्या एकान्त उसे कहते हैं जो पदार्थ के एक ही धर्म को कहे तथा अन्य शेष धर्मो का निषेध करे । इसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण से अविरुद्ध एक वस्तु में अनेक धर्मों का निरूपण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है । एवं प्रत्यक्षादि

सम्यगनेकान्त. । प्रत्यक्षादिविरुद्धानेकधर्मपरिकल्पनं मिथ्यानेकान्तः। तत्र सम्यगेकान्तो नयः, मिथ्यैकान्तो नयाभासः। सम्यगनेकान्तः प्रमाण, मिथ्यानेकान्तश्च प्रमाणाभास इति कथ्यते ।

तथा च सम्यगेकान्तसम्यगनेकान्तावाश्रित्य प्रमाणनयविवक्षाभेदात् स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्त., इत्यादिसप्तभङ्गाः करणीया. । इयं च सप्तभङ्गी नित्यत्वानित्यत्वैकत्वानेकत्वादिधर्मेष्वपि निरूपणीया । यथा स्यान्नित्यो घट. स्यादनित्यो घट इतिमूलभगद्वय । घटस्य द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् पर्यायरूपेणचानित्यत्वात् । तथैव स्यादेको घट. स्यादनेको घट इतिमूलभंग-

---

प्रमाणों से विरुद्ध जो एक वस्तु में अनेक धर्मो का निरूपण करे वह मिथ्या अनेकान्त है । इनमे सम्यक् एकान्त तो नय है और मिथ्या एकान्त नयाभास है । और इसी प्रकार सम्यक् अनेकान्त प्रमाण माना गया है तो मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है–ऐसा कहा गया है ।

इस प्रकार सम्यक् एकान्त और सम्यक् अनेकान्त का आश्रय लेकर प्रमाण नय के भेद की योजना से किसी अपेक्षा से अनेकान्त, किसी अपेक्षा से उभय किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है । कथंचित् एकान्त अवक्तव्य, कथचित् अनेकान्त अवक्तव्य और कथचित् एकात अनेकान्त अवक्तव्य है–इस तरह सात भंग करने चाहिए । और इस सप्त भंगी को नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों मे भी इसी तरह प्रयुक्त करना चाहिए । जैसे कि घट कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है–ये दो मूल भंग है; क्योकि घट द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है । एकत्व तथा अनेकत्व सप्तभंगी की योजना इस प्रकार है–कथंचित् घट एक है और कथचित् अनेक है–ये दो मूल भंग हैं । यहा द्रव्य रूप से घट एक ही है; क्योंकि एक

द्रव्यं । मृद्द्रव्यरूपेण घटस्यैकत्व स्थासकोशकुसूलादिपर्यायेषु तस्यैकत्वात् । पर्यायरूपेणानेको घटः रूपरसाद्यनेकपर्यायात्मकत्वाद् घटस्य ।

नन्वयमनेकान्तवादश्छलमात्रमेव, तदेवास्ति तदेवनास्ति तदेव नित्य तदेवानित्यमिति प्ररूपणारूपत्वादस्येति चेन्न–छललक्षणाभावात् । अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलमिति छलसामान्यलक्षणं । यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्त इतिवाक्यस्य नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरमाशंक्य कश्चिद् दूषयति नास्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात् । द्विकम्बलवत्वमपि न संभाव्यतेऽस्य कुतो नवेति ।

मृत्तिका रूप द्रव्य पिण्ड सम्पूर्ण पर्यायों मे अनुगत है और वह ऊर्ध्वता सामान्य रूप है । पर्याय रूप से घट अनेक है; क्योंकि घट रूप रस गन्ध तथा स्पर्श आदि अनेक पर्यायात्मक है ।

शका–यह अनेकान्तवाद मात्र छल है । वही है–वही नही है, वही नित्य है–वही अनित्य है–अनेकान्तवाद इस तरह निरूपण करता है । अतः मात्र छल है ।

समाधान–ऐसा कहना युक्त नहीं; क्योंकि अनेकान्तवाद मे छल का लक्षण नही घटता । छल का सामान्य लक्षण है अन्य अभिप्राय से कहे गए शब्द का अन्य अर्थ कल्पना कर दूषण देना । जैसे कि यह देवदत्त नव कंवल युक्त है । यहां नव का अर्थ नवीन अभिप्राय से कथित नव शब्द को अन्य अर्थ में कल्पना करके कोई दूषण देता है कि देवदत्त के नो कम्बल कहां से आए; क्योंकि वह दरिद्री है । इसके तो दो कंवलों की ही सभावना नही तो नो कहा से हो सकते हैं ? इस तरह के छल के लक्षण का अनेकान्तवाद मे कोई प्रसग ही नहीं है;

अनेकान्तवादे तु तादृशलक्षणस्य प्रसंग एव नास्ति ।

अथ सशयहेतुरनेकान्तवादः, एकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धानामस्तित्वनास्तित्वादिधर्माणामसंभवात् । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्याकारक ज्ञान सशय, एकधर्मिविशेष्यकस्थाणुत्वतदभाव-प्रकारकज्ञानत्वात् तथैवाऽयमपि, इति चेन्न—विशेषलक्षणोपलब्धे । संशयो हि सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च जायते । अनेकान्तवादे तु विशेषोपलब्धिरप्रतिहता एव । स्वरूपपररूपादिविशेषाणा प्रत्यर्थमुपलंभात् । तस्माद् विशेषोपलब्धेरनेकान्तवादो न सशयकारणमिति ।

क्योकि यहा अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द की अन्य अर्थ मे कल्पना का अभाव है।

अब अगर कोई यह कहे कि अनेकान्तवाद तो संशय का कारण है; क्योकि एक ही वस्तु मे अस्तित्व तथा नास्तित्व परस्पर विरोधी धर्म संभव नहीं हैं । जैसे यह ठूंठ है या पुरुष इस प्रकार के ज्ञान को सशय कहते हैं; क्योकि एक ही पदार्थ में स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व दो कोटियों को स्पर्श किया गया है । इसी तरह परस्पर विरोधी अस्तित्व नास्तित्व धर्मों का अनेकान्त में विवेचन है अत वह संशय का कारण है । ऐसा कहना भी युक्त नही; क्योंकि अनेकान्तवाद के विशेष लक्षण की उपलब्धि है । संशय तो सामान्य अंश के प्रत्यक्ष तथा विशेष अंश के अप्रत्यक्ष और विशेष की स्मृति होने से होता है । अनेकान्तवाद मे तो विशेष अंश की उपलब्धि अक्षुण्ण ही है, क्योकि स्वरूप पररूप विशेषों की उपलब्धि प्रत्येक पदार्थ मे है । अतः विशेप की उपलब्धि से अनेकान्तवाद संशय का कारण नहीं है ।

ननु–अनेकान्तवादे विरोधादयोऽष्टौ दोषा: सभवन्ति। तथाहि–एकात्रार्थे विधिप्रतिषेधरूपयोरस्तित्वधर्मयोर्न सभव। भावाभावयो परस्पर विरोधादिति विरोधदोष:। अस्तित्व-स्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्यदित्यस्तित्वनास्तित्व योर्वैयधिकरण्यम्–तस्य विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वादिति द्वितीयो दोष। येन रूपेणास्तित्व येन च रूपेण नास्तित्व तादृशरूप-योरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व वक्तव्य, तच्च स्वरूप-पररूपाभ्या, तयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व स्वरूप-पररूपाभ्यामित्यनवस्था। अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पना-विश्रान्त्यभावोऽनवस्थेति प्रोच्यते। येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणा-सत्त्वस्यापि प्रसङ्गः। येन रूपेण चासत्त्व तेन रूपेण सत्त्व-

---

शका–अनेकान्तवाद मे तो विरोध आदि आठ दोषों की सभावना है फिर उस अनेकान्तवाद को श्रेष्ठ कैसे माना जाय ?–जैसे कि एक पदार्थ मे विधि-प्रतिषेध-रूप अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप धर्म संभव नहीं हो सकते, क्योंकि भाव और अभाव का परस्पर विरोध है। इस तरह अनेकान्त मे विरोध दोष आता है। अस्तित्व का अधिकरण अलग होता है तो नास्तित्व का अलग। इस तरीके से अस्तित्व और नास्तित्व की वृत्ति भिन्न भिन्न अधिकरण में है। अत: अनेकान्त में वैयधि-करण दोष है क्योकि उसका लक्षण भिन्न भिन्न अधिकरण वृत्तिता रूप है। तथा जिस रूप से अस्तित्व है और जिस रूप से नास्तित्व है–उन दोनों रूपों को भी प्रत्येक को अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप कहना चाहिये और बह अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप एव पररूप से होता है। और उन स्वरूप तथा पररूप को भी प्रत्येक को अस्तित्व तथा नास्तित्व रूप स्वरूप तथा पररूप से होना चाहिए—इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आता है; क्योंकि असत्य पदार्थों की परम्परा से कल्पना करते

स्याऽपि प्रसक्तिरिति सङ्कर: । सर्वेषां युगपत्प्राप्ति: सङ्कर इत्यभिधानात् । येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्वं, येन रूपेणासत्त्वं तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वमिति व्यतिकर:, परस्पर विषयगमनं व्यतिकर इति वचनात् । सत्त्वासत्त्वात्मकत्वे च वस्तुन: इदमित्थमेवेति निश्चेतुमशक्ते संशय: । ततश्चानिश्चयरूपाऽप्रतिपत्ति: । तत सत्त्वासत्त्वात्मनो वस्तुनोऽभाव इति ।

अत्रोच्यते-विरोधो ह्यनुपलभसाध्य: । वस्तुनि स्वपररूपा-

जाना कही विराम न लेना ही अनवस्था दोष कहलाता है । जिस रूप से सत्व है उसी रूप से असत्व का भी प्रसग है और जिस रूप से असत्व है उसी रूप से सत्व की भी प्राप्ति है—इसलिए अनेकान्त संकर दोप से दूषित है; क्योकि एक वस्तु मे एक ही समय मे सब धर्मो की प्राप्ति होना संकर दोप कहलाता है । जिस रूप से सत्त्व है उस रूप से असत्त्व ही रहेगा न कि सत्व और जिस रूप से असत्त्व है उस रूप से सत्त्व ही होगा न कि असत्त्व—इस तरह व्यतिकर दोष का प्रसग आता है । क्योंकि परस्पर विपय गमन को ही व्यतिकर दोप कहते है । एवं एक ही पदार्थ सत्त्व असत्त्व दोनों रूप होने से यही है, इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय न होने से संशय दोप आता है और जब वस्तु सशय दोष से ग्रसित है तो अनिश्चय रूप अप्रतिपत्ति नामका दोष आता है और उससे सत्त्व असत्त्व रूप वस्तु का ही अभाव हो जाता है । इस तरह अनेकान्तवाद आठ दोषों से युक्त होने से कैसे समीचीन सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—अनेकान्त में कोई दोष नही आता । सर्व प्रथम विरोध दोप दिखाया गया है पर अनेकान्त में वह संभव नही

अपेक्षया कथञ्चित्प्रतीयमानयो सत्त्वासत्त्वयोः को विरोध । न हि स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलंभोऽस्ति, द्वयोर्निर्वाधमुपलंभात् ।

विरोधो हि त्रिधा व्यवतिष्ठते-एको वध्यघातकभावलक्षणो यथा अहिनकुलयोर्जलानलयोर्वा । द्वितीय सहानवस्थानरूपो यथा एकस्मिन्नाम्रफले श्यामतापीततयो । अनयो सहावस्थानासभवात् । तृतीय. प्रतिबध्यप्रतिवन्धकभावात्मा यथा सति मणिरूपप्रतिबन्धके वह्निना दाहो न जायते इति मणिदाहयो' प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाख्यो विरोधः । त्रिविधोऽप्येष विरोधोऽस्तित्वनास्तित्वयोर्वस्तुनि सर्वक्षनुभूयमानयोर्न प्रतीतिगोचरो भवति ।

है क्योंकि विरोध का साधक अभाव होता है । वस्तु में स्वरूप पररूप आदि की अपेक्षा से कहे जाने वाले और दिखाई पड़ने वाले सत्त्व और असत्व का विरोध है ही कहा । स्वरूपादि की अपेक्षा से वस्तु का सत्त्व होने पर भी उसी समय पररूप आदि से असत्त्व की अप्राप्ति नही है । स्वरूपादि से सत्त्व की तरह पररूपादि से असत्त्व भी अनुभव सिद्ध है ।

विरोध तीन तरह से हुआ करता है । पहला बध्यघातकभाव लक्षणवाला है अर्थात् एक के वध्य और दूसरे के घातक होने से होता है जैसे कि सांप-नकुल का तथा अग्नि और जल का होता है । दूसरा विरोध एक साथ स्थिति न होने रूप होता है जैसे कि आम के फल मे श्यामता और पीलेपन का-यह दोनों एक साथ नही रह सकते । तीसरा विरोध प्रतिवध्य-प्रतिबन्धक भाव रूप होता है- जैसे कि प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के रहते हुये अग्नि से जलाने रूप क्रिया नही होती । इसलिए मणि तथा दाह में प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव नामक विरोध है । स्वरूप से वस्तु के अस्तित्व काल मे भी पररूपादि से नास्तित्व की प्रतीति भी सदा प्रतीति सिद्ध होने से अनेकान्त में यह तीनो ही प्रकार का विरोध नही आता ।

एतेन वैयधिकरण्यमपि निरस्तं सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरण-तया प्रतीतिसिद्धत्वात् । अनवस्थादोषोऽपि नानेकान्तवादिनां संभवति । अनन्तधर्मात्मकवस्तुनः स्वयं प्रमाणप्रतिपन्नत्वेनाभ्युपगमात् नाप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनारूपमनवस्थानम् । एतेन संकरव्यतीकरावपि प्रत्युक्तौ, प्रतीतिसिद्धे वस्तुनि कस्यापि दोषस्याभावात् । दोषा हि प्रतीत्यसिद्धपदार्थगोचरा भवन्ति । प्रतीतिसिद्धे संशयाऽप्रतिपत्यभावानामप्यवकाशो नास्तीति पूर्वोक्ताष्टदोषसंभावनालेशोऽपि न विद्यते ।

इमामनेकान्तप्रक्रियां प्रवादिनोऽपि स्वीकुर्वन्त्येव । यद्यपि

इस पूर्व कथन से वैयधिकरण्य दोष का भी खंडन हो गया, क्योंकि एक अधिकरण मे ही अपेक्षा भेद से सत्त्व तथा असत्त्व की स्थिति प्रतीति का विषय है ।

और जो अनवस्था नामका दोष बताया था वह भी अनेकान्त-वादियों के प्रवेश नहीं पाता; क्योंकि वे स्वयं वस्तु को परस्पर विरोधी अनेक धर्म स्वरूप प्रमाण से सिद्ध स्वीकार करते हैं-अत: अप्रमाणीक अनेक पदार्थों की परंपरा की कल्पना का यहां सर्वथा अभाव ही है।

इसी पूर्वोक्त कथन से संकर तथा व्यतिकर दोनों दोष भी खंडित हो गए; क्योंकि पदार्थ अनुभव सिद्ध होने पर किसी भी दोष को अवकाश नहीं मिलता । जब पदार्थ की सिद्धि अनुभव से विरुद्ध होती है तभी दोषो का संचार होता है । संशय,अप्रतिपत्ति तथा अभाव दोषों का भी प्रतीति-सिद्ध पदार्थों मे संचार नहीं होता । इस तरह अनेकान्त में आठों दोषों की लेशमात्र भी संभावना नहीं है ।

इस अनेकान्त प्रक्रिया को अन्यमत वाले भी स्वीकार करते

कण्ठतस्तैरस्या विरोधः कृतः किंत्वेकानेकात्मकतत्त्वस्वीकारादस्याः सर्वत्रानुसरणं तैरपि कृतम् । तथाहिः—

सांख्यास्तावत् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति कथयन्ति । तेषां मते प्रसादलाघवशोषतापवारणासादनादिभिन्नस्वभावानामनेकात्-मनामेकप्रधानात्मकत्वस्वीकारेणैकानेकात्मकवस्तुनः स्वीकारात् । समुदायसमुदायिनोरभेदात् समुदायिना गुणानामनेकेषा समुदायस्य चेकस्याभेदाम्युपगमात् ।

यौगास्तु (नैयायिकवैशेषिकौ) द्रव्यत्वादिकं सामान्यविशेषात्मकमङ्गीकुर्वन्ति । द्रव्य द्रव्यमित्यनुगतबुद्धिविषयत्वात् सामान्यं, गुणो न द्रव्य, कर्म न द्रव्यमिति व्यावृत्तिबुद्धिविपय-

---

ही है । यद्यपि उन्होने मौखिक रूप से इसका विरोध किया है किन्तु वस्तु को एक-अनेक स्वरूप स्वीकार करने से इस अनेकान्त का सब जगह उन्होने अनुसरण किया ही है । जैसे कि—सांख्य, सत्त्व-रज-तमो गुण की समान अवस्था को प्रकृति कहते है । उनके मतानुसार प्रसाद लाघव शोष ताप वारण वगैरह भिन्न भिन्न स्वभाव वाले अनेक धर्म वाले पदार्थों को एक प्रधान रूप मानने से ही पदार्थ एक अनेक स्वरूप स्वीकार कर लिया गया । समुदाय और समुदायी में अभेद होने से समुदायी के अनेक अवयव गुणों का तथा एक समुदाय का अभेद उनके द्वारा मान्य ही है ।

नैयायिक वैशेषिक भी द्रव्य आदि पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक मानते ही है । पृथिवी जल वगैरह में यह द्रव्य है अर्थात् पृथिवी द्रव्य है, जल द्रव्य है, वायु द्रव्य है इस तरह अनेक पदार्थों मे एक प्रकार की बुद्धि होने से द्रव्यत्व सामान्य रूप है । तथा गुण द्रव्य नही है, कर्म द्रव्य नहीं है इस प्रकार अन्य पदार्थों से एक को भिन्न करने से विशेष रूप भी है । इसी प्रकार एक

त्वाद्विशेष । तथैकमेव द्रव्यत्वं जातिः सत्तापेक्षयाऽपरा, पृथित्वाद्यपेक्षया च परा, इत्येकस्य परापरात्मकत्वमभ्युपगतम् । एवं च सामान्यविशेषात्मकत्वमेकस्य स्वीकृतम् । तथैव गुणत्व कर्मत्व सामान्यविशेष इति ।

सौगता अपि मेचकज्ञानमेकमनेकाकारं प्रतिपादयन्ति । पंचवर्णात्मकं रत्न मेचकं । तज्ज्ञान नैकप्रतिभासात्मकमेव चित्रज्ञानत्वविरोधात् । नीलपीतादिनानाकारज्ञानं हि चित्रज्ञान न त्वेकाकारमेव, नापि मेचकज्ञानमनेकमेव मेचकज्ञानमिदमित्यनुभवविरोधात् । इमानि मेचकज्ञानानीत्यनुभवप्रसंगाच्च । ततश्चैकानेकात्मक चित्रज्ञानं सौगतादीनामभीष्टमेव ।

ही द्रव्यत्व जाति सत्ता की अपेक्षा अपर है और पृथिवी वगैरह की अपेक्षा से पर है, इस प्रकार एक ही जाति को पर और अपर रूप स्वीकार किया है । इस तरह यौगो ने एक पदार्थ को सामान्य विशेष रूप माना है ऐसे ही गुणत्व तथा कर्मत्व भी सामान्य विशेप रूप है–यह समझ लेना चाहिए ।

बौद्ध मतावलम्बी भी मेचक मणि के ज्ञान को एक और अनेक रूप स्वीकार करते हैं । पंच रंग वाले रत्न को मेचक कहते है । उस मणि का ज्ञान एक प्रतिभास स्वरूप माना नही जा सकता; क्योकि चित्र ज्ञानत्व का विरोध है– नीला पीला वगैरह अनेक प्रकार का ज्ञान ही चित्रज्ञान है–न कि एक आकार का ज्ञान । मेचक ज्ञान को अनेक पदार्थ विपयक भी नही कह सकते; क्योकि यह मेचक ज्ञान है–इस अनुभव के विरोध का प्रसग उपस्थित होगा–और ये मेचक ज्ञान है ऐसे बहुवचन के अनुभव का प्रसंग होगा । इसलिए चित्रज्ञान को बौद्धों ने एक तथा अनेक स्वरूप माना ही है ।

मीमांसका अपि प्रमातृप्रमितिप्रमेयाकारमेकं ज्ञानं घटमहं जानामीत्यनुभवात् स्वीकुर्वन्तीत्येवं रीत्या मतान्तरेष्वनेकान्त-प्रक्रियाऽनुभवसिद्धा वर्तत एवेति सर्वत्रानेकान्तशासनं जयति ।

अहिंसातत्त्वम्

स्याद्वादनिरूपणानन्तरमधुना जैनाचारस्याधारभूताया: अहिंसाया: विवेचनं क्रियते । हिंसाया अभावरूपा ह्यहिंसा अतो हिंसास्वरूपज्ञानमन्तरेणाहिंसाया: ज्ञान न स्यात् । भावज्ञानं बिनाऽभावज्ञानसंभवादिति तावद् हिंसाया: स्वरूपं कथयितु-मुपक्रमे ।

मीमांसक मत वाले भी 'मैं घट को जानता हूँ' इस अनुभव के कारण एक ही ज्ञान को प्रमाता, प्रमिति एव प्रमेय रूप स्वीकार करते हैं । इस तरह अन्य मतों में भी अनेकान्त प्रक्रिया अनुभव सिद्ध है ही ।

इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक है और निर्दोष है ।

अहिंसा तत्व

स्याद्वाद का वर्णन करने के बाद अब जैनाचार का प्राण अहिंसा का कथन किया जाता है । हिंसा का अभाव अहिंसा है । इसलिये हिंसा के स्वरूप का ज्ञान हुए विना अहिंसा का ज्ञान नहीं हो सकता । भाव का ज्ञान हुए विना अभाव का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सर्व प्रथम हिंसा का लक्षण कहा जाता है ।

प्रमत्तयोगहेतुकप्राणव्यपरोपणलक्षणा हिंसा। प्रमत्तयोगो हि कषायसम्बन्ध। प्राणश्च द्रव्यभावभेदेन द्विविधाः द्रव्यप्राणा. पञ्चेन्द्रियाणि, मनोवाक्कायबलानि, श्वासोच्छ्वासमायुश्चेति दश। तत्रैकेन्द्रियस्य चत्वारो, द्वीन्द्रियस्य षट्, त्रीन्द्रियस्य सप्त, चतुरिन्द्रियस्याष्टौ, निर्मनस्कपञ्चेन्द्रियस्य नव, समनस्कपञ्चेन्द्रियस्य दश द्रव्यप्राणा भवन्ति। भावप्राणास्तु चैतन्यात्मकाः। एतेषा यथा संभवं व्यपरोपणकरणं हिंसा। प्राणव्यपरोण हि प्राणवियोगः। प्रमत्तयोगहेतुकत्वे सति प्राणवियोगत्वं हिंसायाः लक्षण। अन्यतराभावे हिंसाभावज्ञापनार्थमुभयमुपादीयते। प्रमत्तयोगाभावे केवलस्य प्राणवियोगस्य हिंसात्वाभावात्।

दुर्भावना से अपने तथा पर के प्राणों का घात करना हिंसा है। प्रमाद योग का अर्थ है कषायों का सम्बन्ध होना-भावो का मलिन होना। प्राण दो प्रकार के हैं-द्रव्यप्राण और भावप्राण। द्रव्यप्राण दश हैं-पाच इन्द्रियां, मनवल, वचन-बल, काय-बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण, दो इन्द्रिय के छह, तीन इन्द्रिय के सात, चार इन्द्रिय के आठ, असैनी पचेन्द्रिय के नौ तथा सैनी पचेन्द्रिय के दश प्राण होते है। भाव प्राण चैतन्य स्वरूप हैं। जिस जीव के जितने प्राण सभव है उनका घात करना हिंसा है। प्राण-व्यपरोपण का अर्थ निश्चय से प्राणो का घात करना है। प्रमाद के सम्बन्ध रूप कारण के होने पर प्राणो का बिछुड़ना हिंसा का लक्षण है। दोनो में से एक के न होने पर हिंसा नहीं होती यह बताने के लिए दोनों का ग्रहण किया जाता है। दुर्भावना न हो-केवल प्राणो का वियोग हो वहां हिंसा नही होती।

ननु नैतत् समीचीनं, प्राणव्यपरोपणाऽभावेऽपि प्रमत्तयोग-मात्रादेव तत्र हिंसाया. प्रोक्तत्वात् ।

नैष दोषस्तत्रापि भावलक्षणस्य प्राणव्यपरोपणस्य सद्भा-वात् । सकषायो ह्यात्मा पूर्वं स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्ति । पश्चादन्येषां वधो भवेद् मा वा भवेत् ।

ननु जले स्थले चाकाशे जन्तुसद्भावादयं लोक' सर्वत्र जन्तु-मालाकुल' । तत्र चरन् साधु' कथमहिंसक. स्यात् । सर्वत्र जीव-व्यपरोपणसंभवादिति चेन्न—आत्मत्वपरायणस्य साधोः कषाय-योगाभावादहिंसकत्वमेव ।

किञ्च द्विविधाः प्राणिनः, सूक्ष्माः स्थूलाश्च । ये सूक्ष्मास्ते

शकाकार का कहना है कि यह कहना ठीक नहीं । प्राणों का घात हुए बिना भी मात्र दुर्विचारों से भी हिंसा कही जाती है ।

यह दोष नहीं है । वहा भी भावरूप प्राणों का वियोग होता है । निश्चय से जब आत्मा कषाय सहित होता है प्रथम वह अपने ही द्वारा अपने आपका घात करता है फिर दूसरों का मरण हो या न हो ।

शंकाकार शका करता है कि जल मे, पृथ्वी पर तथा आकाश मे जीव मौजूद होने से यह लोक सब जगह जीवों के समूह से भरपूर है । उनमें होकर चलने वाला साधु सब जगह जीवों का घात होने से अहिंसक कैसे हो सकता है ? ऐसा कहना ठीक नही, आत्म-निष्ठ साधु के प्रमाद का सद्भाव न होने से अहिंसकपना ही है ।

दूसरी बात यह है कि स्थूल और सूक्ष्म दो तरह के जीव होते हैं । जो सूक्ष्म है उन्हे बचाया नहीं जा सकता, क्योंकि

विवर्जयितुमशक्या', अदृश्यत्वात्तेषां। ते तु परस्परं संघर्षेऽपि न पीडामवाप्नुवन्ति। ततस्तेषां संघर्षेऽपि न परतः प्राणव्यपरोपणसंभावना। तेषां स्वायुषः क्षयात् स्वयमेव मरणात्। ये तु स्थूलास्ते सयताचरणेन योगिना विवर्जयितुं शक्यन्ते इति न कदापि संयतात्मनो हिंसा संभवेत्। तस्यात्मपरिणतौ हिंसा-प्रवृत्त्यभावात् कथ हिंसा स्यात्। पुण्यपापकारणं हि भावस्त-थाचोक्तं—

भावोहि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभ इति।

अन्यच्च-

विष्वग्जीवचित्ते लोके,क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ?
भावैकसाधनौ बन्ध—मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्।"

चे दिखाई नहीं पड़ते। वे तो आपस में टकरा कर भी पीड़ा का अनुभव नहीं करते। इसलिए उनके रोंदे जाने पर भी पर के द्वारा उनके प्राणों का उच्छेद नहीं होता। उनका तो अपनी आयु के नाश से ही मरण होता है। और जो स्थूल हैं वे संयमी साधु के द्वारा बचाए जाते ही हैं—इस तरह संयमी के कभी हिंसा नहीं होती। उसके भावों में हिंसा की प्रवृत्ति न होने से हिंसा कैसे हो ? भाव ही पुण्य और पाप के कारण होते है। जैसा कि कहा है—

"शुभ भाव पुण्य का कारण है और अशुभ पाप का"।

और भी—

यदि बन्ध और मोक्ष का एक मात्र कारण भाव नहीं माना जाता तो जीवों से लबालब भरे हुए इस संसार में किसी का भी मोक्ष नहीं होता।

अत एव कृषिकार्येऽनिवार्य्यां हिंसां कुर्वतोऽपि कृषकाज्जलाशयतटे मत्स्यादीन् गृहीतुं सन्निपण्णो धीवरो जाले मत्स्यागमनाभावात्तानघ्नन्नपि उच्चैः पापः प्रोक्तो जैनागमे, कृतहिंसासंकल्पत्वात्तस्य। कृषकस्तु न तादृशः, स हि केवलं कृषिकार्यमेव करोति। न तु जीवहिंसासंकल्पस्तस्य, अत एव यथाशक्ति तत्रागतान् प्राणिनो रक्षत्यपि। तथा चोक्तं—

आरंभेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥

ततः प्राणव्यपरोपणं तदैव हिंसा भवति यदा तद्रागादिकषायप्रेरितं भवेत्। रागाद्यावेशाभावे तु प्राणव्यपरोपणे सत्य-

---

इसीलिये जिनवाणी में खेती में अनिवार्य हिंसा करते हुए भी किसान से वह भील जो सरोवर के किनारे मछलियों को पकड़ने के लिए बैठा हुआ जाल में मछलियो के न फंसने से उन्हे नही मारता हुआ भी ज्यादा पापी कहा गया है। क्योंकि उसका इरादा हिंसा करने का है। किसान तो वैसा नहीं है—वह तो मात्र खेती करता है—उसका जीव हिंसा का इरादा नही है, और यथाशक्ति खेती में आए हुए जीवों को बचाता भी है। जैसा कि कहा है—

विवेकी मनुष्य को चाहिए कि वह सदा किसी भी कार्य मे जान बूझकर हिंसा न करे। जीवों की हिंसा करने वाले किसान से जीवों को नही मारता हुआ भी भील ज्यादा पापी है।

इसलिये प्राणों का घात तभी हिंसा का कारण है जब वह रागादि कषायों के द्वारा सम्पन्न हो। रागद्वेषादि भावों के विना तो प्राणो का घात हो जाने पर भी हिंसा नही होती।

पि न हिंसा भवति, ततो भावहिंसैव मुख्यतो हिंसा प्रोच्यते। रागाद्यावेशे सति नु जीवो म्रियतां मा वा म्रियतां, हिंसाऽवश्यमेव भवति। यदि कषायोऽस्ति निश्चितं हिंसा। आत्मनः सूक्ष्माऽपि हिंसा परवस्तुनिबंधना न भवति। अत एव कश्चन हिंसामकृत्वाऽपि हिंसाफलभाग्भवति तादृशपरिणामसद्भावात्। अपरो हिंसा कृत्वाऽपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्, कषायरूपपरिणामाभावात्। एकस्याऽल्पा हिंसा परिपाकेऽनल्पं फलं ददाति तीव्रकषायत्वात्। अन्यस्य महाहिंसाऽपि परिपाके स्वल्पफला भवति मन्दकषायत्वात्। सैव हिंसैकस्य तीव्रफलं दिशति अपरस्य च मन्दं। सहकारिणोरपि मनुष्ययोरेकैव हिंसा फलकाले वैचित्र्यमादधाति। कदाचिद्धिंसामेकः करोति तस्याः फलभा-

---

इसलिए भावहिंसा को ही मुख्य रूप से हिंसा कहा जाता है। राग भाव के होने पर तो जीव मरे वा न मरे हिंसा अवश्य ही होती है। यदि कषाय हो तो हिंसा निश्चित है। पर पदार्थों के कारण आत्मा को जरासी भी हिंसा नही होती। इसीलिये कोई हिंसा न करके भी हिंसा के फल को भोगता है, क्योंकि उसके भाव हिंसा करने के हैं। दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल का पात्र नही होता क्योंकि उसके भाव कषाय रूप नही है। एक को थोडी सी हिंसा फल देते समय महान् फल देती है क्योंकि कषाय की तीव्रता है। दूसरे को महान् हिंसा भी बहुत कम फल देती है, क्योंकि कषाय की मन्दता है। वही हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरे को थोड़ा। दो मनुष्यों द्वारा एक साथ की गई हिंसा फल देते समय विचित्रता को प्राप्त होती है—अर्थात् एक को हिंसा का फल मिलता है—दूसरे को अहिंसा का। कभी कभी हिंसा एक करता है और उसके फल

जस्तु बहवो भवन्ति। कदाचिद् बहवो हिंसा विदधति, हिंसा-फलभाक्त्वेक एव भवतीत्याद्यनेकानि वैचित्र्याणि हिंसाविषये प्रपश्यता जनेन हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेनावबुध्याव-श्यमेव हिंसा त्याज्या। तथा चोक्तं:—

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा, प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥१॥
प्रमत्तो हिंसको, हिंस्या—द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा, तत्फलं पापसञ्चयः ॥२॥

मंत्रौषधिदेवतायज्ञातिथिभोजनाद्यर्थं कृताऽपि हिंसा हिंसैव तत्फलमपि तीव्रपापसञ्चय एव। तथापि हिंसा पापं विजान-

---

भोगने वाले अनेक होते है। कभी अनेक लोग हिंसा करते है पर हिंसा का फल एक को प्राप्त होता है। इस तरह हिंसा के सम्बन्ध में अनेक विचित्रताओ को देखते हुए प्राणी को हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा–फल को अच्छी तरह जानकर हिंसा का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।

"हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल इन चारों को अच्छी तरह समझ कर हिंसा इस तरह त्याग दे जिससे की गई प्रतिज्ञा का भंग न हो।

प्रमादी जीव हिंसक कहलाता है। द्रव्यप्राण और भाव-प्राण हिंस्य है। प्राणों का वियोग करना हिंसा है और उससे पापों का संचय होना हिंसाफल है।

मंत्र, दवा, देवता, यज्ञ, अतिथि, भोजन वगैरह के लिए की गई हिंसा भी हिंसा ही है और उसका फल भी पापों का तीव्र संचय ही है। किसी के लिए भी की गई हिंसा पाप ही है,

न्तोऽपि केचिद् प्रतिपादयन्ति यद् धर्माद्यर्थं हिंसायां न कश्चिद् दोषो विद्यते ।

अपरे कथयन्ति–धर्मो हि देवताभ्यः समुत्पद्यते, अतो देवतार्थं विहिता हिंसा न पापाय ।

अन्ये च केचिद् व्याहरन्ति–पूज्यनिमित्तं कृतोऽजादीनां घातो न दोषाय, अतोऽतिथ्यर्थं सत्त्वसंज्ञपनमवश्यमेव विधेयम् ।

अपरे च जल्पन्ति–बहुसत्त्वघातसमुत्पन्नादाहारादेकसत्त्वघातोत्थ भोजनं वरमिति महासत्त्वस्यैकस्य हिंसनं युक्तिसङ्गतम् ।

केचिच्च मन्यन्ते–एकस्यैव हिंस्रजीवस्य विनाशेन बहूनां रक्षा भवति, अतो हिंस्रजीवानां हिंसनमवश्यमेव कर्तव्यमिति,

---

ऐसा जानते हुए भी कई लोग कहते है कि धर्म वगैरह के लिए की गई हिंसा में कोई पाप नही लगता ।

दूसरे कहते हैं कि धर्म निश्चय से देवों से उत्पन्न होता है; इसलिए देवता के निमित्त की गई हिंसा से पाप नहीं होता ।

दूसरे कई कहते है कि पूज्य पुरुषों के लिए बकरे वगैरह के मारने में कोई दोष नही; इसलिए अतिथि के लिए जीव हिंसा अवश्य करनी चाहिए ।

और दूसरे मानते हैं कि बहुत से जीवो की हिंसा से पैदा हुए भोजन से एक जीव की हिंसा से पैदा हुआ भोजन उत्तम है; इसलिए एक बड़े जीव का घात करना उचित है ।

और कई ऐसा मानते है कि एक ही हिंसक जीव सिंह वगैरह के मार देने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है, अत हिंसक जीवों की हिंसा करना परमावश्यक है । अथवा बहुत से जीवों

अथवा बहुजीवघातिनोऽमी हिंस्रा जीवन्तो गुरुपापं समुपार्जयन्ति तेषा वधोऽनुकम्पैव तदुपरीति वदन्ति ।

केचित् - ये जीवा बहुदुःखिनः सन्ति तेषा वध एव तद्दुःखमुक्तिरिति, अथवा जीवानां सुखप्राप्तिर्दुर्लभेति सुखिनो हताः सुखावशेषात् सुखिन एव तिष्ठन्तीति समाचक्षते ।

केचित्—समाधिस्थितस्य गुरोः सुधर्माभिलाषिणा शिष्येण शिरस. कर्त्तने स परंब्रह्मावाप्नोतीत्यवश्यमेव तच्छिरः कर्तनीयमित्यूहते ।

केचित्—यथा घटविनाशे घटे स्थितश्चटक उड्डीय स्वाभिलषित देश गच्छति तथैव शरीरविनाशे तत्स्थित आत्मा ततो

घात करने वाले ये हिंसक जीव यदि जिंदा रहेंगे तो महान् पाप उपार्जन करेंगे । उनको मार देना, उन पर दया करना ही है । ऐसा कहते है ।

कई ऐसा कहते हैं कि जो जीव अत्यन्त दुखी हैं—उनको मार देना ही उस दुःख से उनको मुक्ति दिलाना है । अथवा जीवों को सुख प्राप्त होना कठिन है अतः उन सुखी जीवों को सुख शेष रहते हुए मार दिया जाय तो भविष्य में भी वे सुखी होंगे ।

कई ऐसा तर्क करते है कि श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति चाहने वाले शिष्य के द्वारा जब उसका गुरू ध्यान मे तल्लीन हो गुरू का माथा काट देने से वह गुरू परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, इसलिए अवश्य ही गुरू का मस्तक काट देना चाहिए ।

कई थोडे से धन के प्यासे खारपटिक मतवाले कहते हैं कि जैसे घडे के फोड देने से घडे मे बन्द चिडिया उडकर अपने मन पसन्द स्थान को चली जाती है उसी प्रकार शरीर का नाश

निःसृत्य यथायोग्यं स्थानं गच्छतीति सधनहनने न कश्चन दोष इति धनलवपिपासिताः खारपटिकाः भाषन्ते ।

केचित्—यदि कश्चन बुभुक्षया मरणासन्नो भोजनार्थमायातर्हि तद्रक्षणबुद्धया स्वशरीरमांसदानमपि धर्माय जायत इति निगदन्ति ।

इमे च सर्वेऽहिंसाभासा एव नत्वहिंसा । एतेषां स्वतो हिंसारूपत्वादननुकूलत्वाच्च । न च कदाप्यहिंसा हिंसाजन्या संभवेत् । यस्मैकस्मैचित्प्रयोजनाय येनकेनाऽपि प्रकारेण कृतं जीवहननं हिंसैव ।

हिंसा द्विविधा—साकल्पिकी, असाकल्पिकी च । मनसा वाचा कर्मणा कृतकारितानुमोदनैश्च सकल्पाद् या हिंसा क्रियते सा

कर देने पर उसमे रहने वाली आत्मा उसमे से निकलकर यथायोग्य स्थान पर पहुँच जाती है । इसलिए धनवानो के मार देने में कोई दोष नही है ।

कई कहते है कि अगर कोई भूख से मर रहा हो और अगर वह भोजन के लिए आवे तो उसकी रक्षा के खयाल से अपने शरीर का मांस देना भी धर्म का कारण है ।

ये सबकी सब मान्यताएँ अहिंसा भास ही है न कि अहिंसा । ये मान्यताएँ अपने आप मे हिंसा रूप है और इसीलिए धर्म के प्रतिकूल है । तीनो कालों मे भी कभी हिंसा से अहिंसा की उत्पत्ति नहीं हो सकती । चाहे जिस प्रयोजन के लिए अथवा जिस किसी प्रकार से किया गया जीवघात हिंसा ही है ।

हिंसा के दो प्रकार हैं-एक साकल्पिकी, दूसरी असाकल्पिकी । मन वचन काय के द्वारा और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा इरादा करके जो हिंसा की जाती है वह सांकल्पिकी

न च हिंसासंवलितं किञ्चिदनुष्टानमाचारो वा धर्माय। जैनाचारस्येयमेव विशेषता यत्तत्राल्पापि हिंसामात्रा न विसह्या तस्या अधर्मरूपत्वात्। धर्मस्याहिंसालक्षणत्वात्, तथा चोक्त-महिंसा प्रशंसायाम्—

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसालक्षणो धर्म अधर्मस्तद् विपर्यय: ॥१॥
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानंदपद्धति:।
अहिंसैव गति: साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥२॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्त च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हित कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३॥
परमाणो: परं नाल्पं न महद् गगनात्परम्।
यथाकिञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात् परम् ॥४॥

हिंसा गर्भित कोई भी अनुष्ठान अथवा आचार धर्म के लिये नही होता। जैनाचार की यही विशेषता है कि उसमें हिंसा का लेश मात्र भी सह्य नही है क्योंकि वह अधर्म रूप है और धर्म का लक्षण अहिंसा रूप है। अहिंसा की प्रशसा मे अन्य शास्त्रो में भी कहा है—

सम्पूर्ण शास्त्रों में और सब कालो मे यह सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और अधर्म का लक्षण हिंसा है ॥१॥

अहिंसा ही संसार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है ॥२॥

अहिंसा ही कल्याण दायक है वही स्वर्ग का वैभव प्रदान करती है। अहिंसा ही सुख प्रदान करती है और दु:खों का खात्मा करती है ॥३॥

जैसे परमाणु से कोई छोटा नहीं होता और आकाश से कोई वडा नही होता। उसी प्रकार अहिंसा लक्षण रूप धर्म से वढकर कोई धर्म नही होता ॥४॥

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ।।५।।

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्य कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ।।६।।

जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरी गन्तुं पाथेय पथि पुष्कलम् ।।७।।

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ।।८।।

किं न तप्त तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिना ।।९।।

तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान आदि कर्मो की तथा सत्य, शील, व्रत, वगैरह की जननी अहिसा को ही माना गया है ।।५।।

अकेली अहिंसा ही प्राणियो को जो सुख, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करती है वह तप, श्रुत, यम का समुदाय भी नहीं ।।६।।

जन्म मरण की भयंकर बीमारी से ग्रस्त लोगों के लिए अहिसा ही सर्वोत्कृष्ट दवा है और स्वर्ग पुरी के मार्ग में जाने को पौष्टिक कलेवा है ।।७।।

अहिसा ही माता के समान प्राणियो का कल्याण करने वाली है एवं रमण करने के लिए सुन्दर स्त्री के समान तथा अज्ञानान्धकार दूर करने के लिये सरस्वती के समान है ।।८।।

जिस महात्मा ने देहधारियो से प्रेम करके उन्हे निर्भय बना दिया उसने कौनसा तप नही तपा और कौनसा दान नही दिया ।।९।।

न च हिंसासंवलितं किञ्चिदनुष्ठानमाचारो वा धर्माय। जैनाचारस्येयमेव विशेषता यत्तत्राल्पापि हिंसामात्रा न विसह्या तस्या अधर्मरूपत्वात्। धर्मस्याहिंसालक्षणत्वात्, तथा चोक्तमहिंसा प्रशंसायाम्—

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसालक्षणो धर्म अधर्मस्तद् विपर्ययः ॥१॥
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानंदपद्धति.।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥२॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्त च त्रिदिवश्रियम।
अहिंसैव हित कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३॥
परमाणोः पर नाल्पं न महद् गगनात्परम्।
यथाकिञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात् परम् ॥४॥

हिंसा गर्भित कोई भी अनुष्ठान अथवा आचार धर्म के लिये नही होता। जैनाचार की यही विशेषता है कि उसमें हिंसा का लेश मात्र भी सह्य नही है क्योंकि वह अधर्म रूप है और धर्म का लक्षण अहिंसा रूप है। अहिंसा की प्रशसा मे अन्य शास्त्रो में भी कहा है—

सम्पूर्ण शास्त्रों मे और सब कालो मे यह सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिसा है और अधर्म का लक्षण हिंसा है ॥१॥

अहिंसा ही ससार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है, अहिसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है ॥२॥

अहिंसा ही कल्याण दायक है वही स्वर्ग का वैभव प्रदान करती है। अहिसा ही सुख प्रदान करती है और दुःखों का खात्मा करती है ॥३॥

जैसे परमाणु से कोई छोटा नही होता और आकाश से कोई बडा नही होता। उसी प्रकार अहिंसा लक्षण रूप धर्म से बढकर कोई धर्म नही होता ॥४॥

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥५॥
अहिंसैकाऽपि यत्सौख्य कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ॥६॥
जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेय पथि पुष्कलम् ॥७॥
किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥८॥
कि न तप्त तपस्तेन कि न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिना ॥९॥

तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान आदि कर्मों की तथा सत्य, शील, व्रत, वगैरह की जननी अहिंसा को ही माना गया है ॥५॥

अकेली अहिंसा ही प्राणियों को जो सुख, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करती है वह तप, श्रुत, यम का समुदाय भी नही ॥६॥

जन्म मरण की भयंकर बीमारी से ग्रस्त लोगो के लिए अहिसा ही सर्वोत्कृष्ट दवा है और स्वर्ग पुरी के मार्ग में जाने को पौष्टिक कलेवा है ॥७॥

अहिंसा ही माता के समान प्राणियो का कल्याण करने वाली है एवं रमण करने के लिए सुन्दर स्त्री के समान तथा अज्ञानान्धकार दूर करने के लिये सरस्वती के समान है ॥८॥

जिस महात्मा ने देहधारियों से प्रेम करके उन्हे निर्भय बना दिया उसने कौनसा तप नही तपा और कौनसा दान नहीं दिया ॥९॥

सांकल्पिकी । हिंसासंकल्पजन्यत्वात् । हिंसासंकल्पाभावेऽपि या गृहिणोऽनिवार्य्या हिंसा भवति साऽसांकल्पिकी । सा च त्रिविधा-आरंभजन्या, उद्योगजन्या, विरोधजन्या चेति । पञ्चसूनासु गृह-निर्माणादिषु च या गृहस्थस्याऽनिवार्य्या हिंसा साऽऽरभजन्या । जीविकोपायस्वरूपन्यायानुकूलाऽहिंसकोद्योगजन्या द्वितीया । इतराक्रमणे स्वस्वकीयरक्षार्थं याऽनिवार्य्या हिंसा जायते सा विरोधजन्या । आसु चतसृषु हिंसासु गृही केवलां सांकल्पिकी हिंसां प्रत्याख्याति । अपरास्तिस्रस्तु तज्जीवनोपयोगित्वान्न हातुं शक्यन्ते गृहावस्थापर्यन्तम् ।

इमे चत्वारो हिंसाया भेदा गृहस्थापेक्षया । मुनिजीवने तादृशभेदासंभवात् । यस्याऽऽत्मानं विहाय न किमपि स्वं स्वकीयं वा

हिंसा है; क्योकि वह हिंसा इरादतन होती है । हिंसा करने का इरादा न होने पर भी गृहस्थी के द्वारा जो हिंसा टालना सभव नही वह असाकल्पिकी हिंसा है । वह तीन प्रकार की है । आरभी, उद्योगी और विरोधी । चक्की, चूला, ओखली, वुहारी तथा परीडा जो गृहस्थी के पाच सून है उनमें तथा घर वगैरह वनवाने मे अनिवार्य हिंसा होती है वह आरभी हिंसा है । जीविका चलाने के लिए न्यायानुकूल अहिंसक व्यापार में जो हिंसा होती है वह उद्योगी है । दूसरों के द्वारा आक्रमण किए जाने पर अपनी और अपनो की रक्षा के लिए जो अनिवाय हिंसा हो जाती है वह विरोधी हिंसा है । इन चारों प्रकार की हिंसाओ मे से गृहस्थी केवल सकल्पी हिंसा का त्याग करता है । बाकी तीन तो जब तक वह गृहस्थावस्था मे है उसके जीवन के लिए उपयोगी होने से वह उन्हे छोड़ नही सकता ।

हिंसा के ये चार भेद गृहस्थ जीवन के लिये ही है । मुनि जीवन में ऐसे भेद सभव नही है जिसके अपनी आत्मा के

विद्यते स किमर्थमारंभमुद्योगं विरोधं वा कुर्यादिति स सर्वहिसा-विनिवृत्त. सर्वसहश्च । काञ्चनाश्मशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिसम-वृत्ति. साधु पूर्णतोऽहिंसको भूत्वा चलति, भाषते, आहरति, पुस्तकादि आदत्ते निक्षिपति च, उत्सृजति मलमूत्रादीन्, शेते, निषीदति सहते वा परकृतक्लेशादि ।

गृहस्थस्तु परित्यक्तहिसासंकल्प आरंभोद्योगादिषु हिसाम-परित्यन्नपि न कदाप्येतेपु व्यर्थां हिसां करोति । वस्तुतो हिसाया अघहेतुत्वात् । स ह्यल्पारभपरिग्रहे सन्तुष्टो निवार्य्यां हिसाम-वश्यमेव निवारयति । वह्वारंभपरिगृहवांस्तु नादर्शगृहमेधी । तादृशो हिंसाया वैपुल्यात् । एतादृशहिसा–अभावरूपाऽहिंसाऽऽ-चरणार्हा ।

अलावा अपना कुछ भी नहीं वह किस लिए आरभ उद्योग तथा विरोध करे–वह तो सम्पूर्ण प्रकार की हिंसा को छोड देता है और सब उपसर्गो को समता भावों से सहन करता है । स्वर्ण-पत्थर, शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा वगैरह में समता भाव धारण करने वाला वह साधु पूर्ण अहिंसक होकर चलता है, बोलता है, भोजन करता है, पुस्तक वगैरह उठाता और रखता है तथा मल मूत्र वगैरह का विसर्जन करता है, सोता है, वैठता है अथवा दूसरो के द्वारा दिए गए दु खों को सहन करता है ।

गृहस्थ तो संकल्पी हिंसा का त्याग करके आरभ उद्योग वगैरह मे हिंसा का त्याग नही करता । लेकिन व्यापार वगैरह मे भी वह व्यर्थ हिंसा से सदा बचता है क्योंकि हिंसा तो वास्तव में पाप ही का कारण है वह थोडे आरंभ और थोडे परिग्रह मे ही सन्तुष्ट रहता हुआ जिस हिंसा से टल सकता है अवश्य ही टलता है । वहुत आरभी और वहुत परिग्रह रखने वाला तो आदर्श गृहस्थो ही नहीं है क्योंकि वैसी स्थिति में तो हिंसा की प्रचुरता है । ऐसी हिंसा के अभाव रूप अहिंसा का ही पालन करना चाहिए ।

न च हिंसासंवलितं किञ्चिदनुष्टानमाचारो वा धर्माय। जैनाचारस्येयमेव विशेपता यत्त्रात्पापि हिसामात्रा न विसह्या तस्या अधर्मरूपत्वात्। धर्मस्याहिंसालक्षणत्वात्, तथा चोक्तमहिसा प्रशंसायाम्—

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेपु समयेषु च।
अहिंसालक्षणो धर्म अधर्मस्तद् विपर्यय. ॥१॥
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानंदपद्धति:।
अहिंसैव गति: साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥२॥
अहिंसैव शिव सूते दत्त च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हित कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३॥
परमाणो: पर नाल्पं न महद् गगनात्परम्।
यथाकिञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात् परम् ॥४॥

हिसा गर्भित कोई भी अनुष्ठान अथवा आचार धर्म के लिये नही होता। जैनाचार की यही विशेपता है कि उसमें हिसा का लेश मात्र भी सह्य नही है क्योकि वह अधर्म रूप है और धर्म का लक्षण अहिंसा रूप है। अहिसा की प्रशसा मे अन्य शास्त्रों में भी कहा है—

सम्पूर्ण शास्त्रों में और सब कालों मे यह सुना जाता है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है और अधर्म का लक्षण हिंसा है ॥१॥

अहिंसा ही ससार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है; अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है ॥२॥

अहिंसा ही कल्याण दायक है वही स्वर्ग का वैभव प्रदान करती है। अहिंसा ही सुख प्रदान करती है और दु:खों का खात्मा करती है ॥३॥

जैसे परमाणु से कोई छोटा नही होता और आकाश से कोई वडा नहीं होता। उसी प्रकार अहिंसा लक्षण रूप धर्म से वढकर कोई धर्म नहीं होता ॥४॥

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ।।५।।
अहिंसैकाऽपि यत्सौख्य कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ।।६।।
जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरी गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ।।७।।
किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ।।८।।
किं न तप्त तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिना ।।९।।

तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान आदि कर्मों की तथा सत्य, शील, व्रत, वगैरह की जननी अहिंसा को ही माना गया है ।।५।।

अकेली अहिंसा ही प्राणियो को जो सुख, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करती है वह तप, श्रुत, यम का समुदाय भी नहीं ।।६।।

जन्म मरण की भयंकर बीमारी से ग्रस्त लोगो के लिए अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट दवा है और स्वर्ग पुरी के मार्ग में जाने को पौष्टिक कलेवा है ।।७।।

अहिंसा ही माता के समान प्राणियों का कल्याण करने वाली है एवं रमण करने के लिए सुन्दर स्त्री के समान तथा अज्ञानान्धकार दूर करने के लिये सरस्वती के समान है ।।८।।

जिस महात्मा ने देहधारियों से प्रेम करके उन्हें निर्भय बना दिया उसने कौनसा तप नही तपा और कौनसा दान नही दिया ।।९।।

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥१०॥

यत्किंचित् संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादिसमस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥११॥

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः ।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम् ॥१२॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः ।
हिंसैव नरको घोरो हिंसैव गहनं तमः ॥१३॥

सौख्यार्थे दुःखसंतानं मंगलार्थेऽप्यमंगलम् ।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥१४॥

जैसे जैसे मनुष्यों के हृदय में करुणा की स्थिरता होती है, वैसे वैसे विवेक रूपी लक्ष्मी परम प्रसन्नता को प्राप्त होती है ॥१०॥

संसार में प्राणियों के दुःख, शोक, भय तथा दुर्भाग्य वगैरह सब का एक मात्र कारण हिंसा को जानना चाहिये ॥११॥

मनुष्यों के द्वारा किया गया जीवों का घात चाहे वह शान्ति के लिए हो या देवपूजा के लिये हो अथवा यज्ञ के लिये हो—मनुष्य का तत्काल पतन कर देता है ॥१२॥

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पापों का समुद्र है। हिंसा ही भयानक नरक है और हिंसा ही सघन अन्धकार है ।१३।

सुख के लिये की गई हिंसा निश्चय से दुःख परम्परा को प्रदान करती है। कल्याण के लिये की गई हिंसा अमंगल प्रदान करती है और जीवन के लिये की गई हिंसा नियम से मृत्यु को प्राप्त कराती है ॥१४॥

अन्यच्च—

एसा सा भगवई अहिंसा जासा भीयाणं पिव सरणं ।
पक्खीणं पिव गगणं, तिसीयाणं पिव सलिलं,
खुदियाण पिव असणं समुद्दमज्झेव पोयवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं, दुदट्ठियाणं च ओसदिवल
अडविमज्झेवसत्थगमणं तथा विसिट्ठतरिगा अहिंसा ।

अन्यच्च—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।

वस्तुतोऽहिंसा भगवती । अनयैव मनुष्यस्य सर्वा आपदो विनश्यन्तीतीयम् समुपास्या नित्यमात्महितेप्सुभिरित्ति ।

और भी कहा है:—

जैसे डरे हुये जीवों के लिये उत्तम शरण स्थान, पक्षियों के लिये प्रिय आकाश, प्यासों के लिये प्रिय सलिल, क्षुधार्त्तों को मिष्ट भोजन, समुद्र में डूबतों को प्रिय जहाज, पशुओ को प्रिय व्रज, रोगग्रस्तो को प्रिय औषध तथा भयंकर वन में सार्थवाह अर्थात् साथियों का समूह होता है । वैसे ही संसार में जीवों के लिये भगवती अहिंसा होती है । अहिंसा की ऐसी ही विशेषता है ।

और भी कहा है—

संसार मे अहिसा प्राणी मात्र के लिये प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है ।

वास्तव में अहिंसा भगवती है । इस के द्वारा मनुष्य की सब विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, अत आत्म-हित चाहने वाले लोगों को इसकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए ।

जातितत्त्वमीमांसा

मुक्तेरव्यवहितकारणस्य रत्नत्रयस्यादिमं सम्यग्दर्शनं जात्याद्यहंकाराभावे न भवतीति जातिविषये किञ्चित् प्रस्तूयते ।

जातिर्हि सदृशपरिणामात्मिका । अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतार्थात्मकत्वात्तस्याः । एतल्लक्षणापेक्षया कर्मसिद्धान्तानुसारेण तु पञ्चैव जातय एकेन्द्रियाद्याख्याः । मनुष्यत्वपशुत्वप्रभृतयो वा भवन्तु जातयः । किन्तु ब्राह्मणक्षत्रियादिजातिभेदकल्पनं ह्याचारमात्रभेदेन संजातं । वस्तुदृष्ट्या तु न काचिद् ब्राह्मणीयाऽन्या वा नियता तात्त्विकी जातिरस्ति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्णामपि तत्त्वतः एकैव मानुषी जातिराचारेण तु तत्र भेदकल्पना संभूता । तथा चोक्तमार्ष—

✗जाति तत्त्व मीमांसा

मुक्ति का साक्षात् कारण रत्नत्रय में से पहला जो सम्यग्दर्शन रत्न है, वह जाति वगैरह के अभिमान का जबतक खात्मा न हो, उत्पन्न नहीं होता इसलिये जाति के विषय मे कुछ प्ररूपणा किया जा रहा है ।

निश्चय से समान परिणमन स्वरूपता को जाति कहते है क्योंकि वह अविरोधी समान धर्मों के द्वारा आत्मा को एक रूप करती है । इस लक्षण की अपेक्षा से कर्म सिद्धान्त के अनुसार तो एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति आदि पाच ही जातियां हैं । अथवा मनुष्यत्व पशुत्व वगैरह जातियां हो सकती हैं । लेकिन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जाति कल्पना तो निश्चय पूर्वक आचार भिन्नता से ही उत्पन्न हुई है । वास्तव मे तो ब्राह्मण या और कोई सचमुच नियत जाति नही है । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारो की ही वास्तव में एक ही मनुष्य जाति है । मात्र आचार-भिन्नता मे वहा यह भेद कल्पना हो गई है । ऐसा ही

मनुष्यजातिरेकैव–जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदात्–चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रिया शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥

जातिरेषा गुणैः सम्पद्यते, गुणध्वंसैश्च विपद्यते । जातिर्हि गुणेन कर्मणा वा भवति न तु जन्मना । तथा चोक्तं पद्मचरिते–

ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ।
चातुर्वर्ण्यं तथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

कहा है "मनुष्य जाति नाम कर्म के उदय से पैदा हुई मनुष्य जाति एक ही है । आचरण भिन्नता रूप कारण के द्वारा ही वह संसार में चार प्रकार की हो गई है । व्रतों के संस्कार वाले ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने वाले क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धनोपार्जन करने वाले वैश्य और नीच वृत्ति (सेवा वृत्ति) आश्रय लेने वाले शूद्र कहलाये ।

गुणो के द्वारा यह जाति उच्च बनती है और गुणो के नाश से नीच हो जाती है । निश्चय पूर्वक जाति गुण से अथवा कर्म से होती है जन्म से नही । ऐसा ही पद्मचरित मे कहा है—

ब्राह्मण व्रत सस्कार वगैरह गुणों के सम्बन्ध से है न कि ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने से । चार प्रकार की वर्णव्यवस्था तथा और भी जो चाडाल वगैरह विशेषण हैं वे सब के सब संसार में आचार की भिन्नता से ही प्रसिद्ध हुये हैं । क्योंकि जो चांडाल व्रतो का पालन करता है उसे देव, ब्राह्मण नाम से पुकारते हैं ।

उत्तराध्ययने चोक्तं—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा ॥

वरांगचरिते च—

क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्-
दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति
न चान्यथावर्णचतुष्टयं स्यात् ।

न च जातिमात्रतः कदाचिद् धर्मो लभ्यते। नीचत्वोच्चत्व-प्रयोजकत्वं तु गुणाभावगुणयोरेव। तथा चोक्तममितगतिनाऽऽचार्येण—

उत्तराध्ययन में भी कहा है—प्राणी कार्य से ब्राह्मण होता है, कार्य से ही क्षत्रिय होता है, कार्य से ही वैश्य तथा कार्य से ही शूद्र होता है।

वरांग चरित में भी कहा है— उत्तम लोग क्रिया विशेष के आचरण मात्र से ही चार वर्णों की व्यवस्था करते है अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का मुख्य धर्म दया, क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्म अभिरक्षा, वैश्य वर्ण का मुख्य कर्म कृषि और शूद्र वर्ण का मुख्य कर्म शिल्प है। और किसी प्रकार वर्ण चतुष्टय की व्यवस्था नही है।

जाति मात्र से कभी धर्म की उपलब्धि नहीं होती। जिसमें गुणो का अभाव है वह उच्च होने पर भी नीच है और जिसमें गुणों का निवास है वह नीच होकर भी उच्च है। अमितगति आचार्य ने भी इसी प्रकार निरूपण किया है—

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः ।
सत्यशौचतप. शील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥१॥

आचारमात्रभेदेन जातीना भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२॥

ब्राह्मणक्षत्रियादीनां-चतुर्णामपि तत्त्वतः ।
एकैव मानुषी जाति-राचारेण विभज्यते ॥३॥

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया ।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥४॥

गुणैः सम्पद्यते जाति-र्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥५॥

प्राणियो के जीवन में अगर सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान, स्वाध्याय आदि गुण न हो तो वे मात्र जाति के उच्च होने से धर्म को प्राप्त नही कर सकते ॥१॥

शुभ और अशुभ आचरण के भेद से ही जाति भेद की कल्पना हुई है। ब्राह्मणादि जाति कोई वास्तविक, निश्चित अमिट या अनादि नहीं है ॥२॥

वास्तव में ब्राह्मण क्षत्रिय वगैरह चारों ही की एक ही मनुष्य जाति है और वह ही आचार-व्यवहार के द्वारा चार भागों में विभाजित हो जाती है ॥३॥

जिस जाति मे संयम, नियम, शील, तप, दान, यम, दया आदि गुण यथार्थ रूप में पाये जाय वही जाति बडी है ॥४॥

गुणों के होने से ही उच्च जाति होती है, गुणों के नष्ट होने से ही जाति का नाश हो जाता है। इसलिये बुद्धिमानो को चाहिए कि गुणो को प्राप्त करने में ही परम पुरुषार्थ करें ॥५॥

जातिमात्रमदः कार्यो न नीचत्वप्रयोजक ।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥६॥

ब्राह्मणत्वादयो भेदा ह्यौपाधिकाः, न चेमे नित्याः । तेषां स्वयं विलोपस्वीकारात् । क्रियाविलोपाच्छूद्रान्नादेश्च ब्राह्मणस्य जातिलोपः स्वयमेवाभ्युपगत जातिवादिभिः ।

शूद्रान्नाच्छूद्रसंपर्काच्छूद्रेण सह भाषणात् ।
इह जन्मनि शूद्रत्वं, मृतः श्वा चाभिजायते ॥ इत्यभिधानात्

न च ब्राह्मणत्वादयो जातयः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते । न खण्डमुण्डादिषु सादृश्यलक्षणगोत्ववद् देवदत्तादौ ब्राह्मणत्व-

---

मात्र नीचत्व का सूचक जाति का अभिमान कभी नहीं करना चाहिए और सज्जनों को सदा सदाचार का ही समादर करना चाहिए जो कि उच्चता प्रदान करने वाला है ॥६॥

ब्राह्मणत्व वगैरह जो भी भेद हैं वे कृत्रिम है, ये नित्य अर्थात् अमिट नही हैं क्योंकि उन्होंने स्वयं ही उस जाति का लुप्त हो जाना माना है । उच्चकर्म के अभाव होने तथा शूद्रो के अन्न वगैरह के उपयोग से ब्राह्मण जाति का लुप्त हो जाना जातिवादियों ने स्वयं ही स्वीकार किया है ।

कहा भी है—

शूद्र का अन्न खाने से, शूद्र के साथ सम्पर्क करने से और शूद्र के साथ वार्तालाप करने से इस जन्म मे शूद्र हो जाता है और मरकर कुत्ता बन जाता है ।

और ब्राह्मत्व वगैरह जातिया प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत नही होती । खण्डी मुण्डी गायो में समान लक्षण गोत्व की तरह देवदत्त वगैरह मे ब्राह्मणत्व जाति अन्य है ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण

जातिरन्या वा प्रत्यक्षत. प्रतीता समुपलभ्यते । अन्यथा किमयं ब्राह्मणोऽन्यो वेति संशयो न भवेत्, तथा च तन्निरासाय गोत्राद्युपदेशो व्यर्थः । न हि गौरयं मनुष्यो वेनि निश्चयो गोत्राद्युपदेशमपेक्षते ।

यावज्जातिकुल द्यभिमानस्तिष्ठति मनुष्ये न तावद् धर्मावकाशः । धर्माचरणं सर्वेषां स्वतंत्रत्वात् । न च जातिधर्मयोः कश्चनाविनाभावो विद्यते । धर्मोह्यात्मस्वरूपं शरीरे कल्पितायाः जात्यास्तत्र क उपयोगः, जातिवादावलेपेन मनुष्यस्य पतनं भवति । मुक्तिर्हि न कामपि जातिमपेक्षते । अत एव तदाप्तौ बद्धपरिकरो योगी जात्यातीतो वर्णातीतश्च भवति । जात्याद्यष्टविधमदवेशपरित्यजनमन्तरेण न च कोऽपि विमुक्तो भवति जात्याग्रहो हेय· । ।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

से अनुभव में नही आता । अन्यथा क्या यह ब्राह्मण है अथवा अन्य है ऐसा संशय नही होना चाहिए और वैसा होने पर उस संशय को मिटाने के लिए गोत्र वगैरह का उपदेश देना व्यर्थ होगा । यह गाय है या मनुष्य इसका निश्चय करने के लिए गोत्र वगैरह के उपदेश की जरूरत नही होती ।

मनुष्य में जबतक जाति और कुल का अभिमान रहता है तबतक उसमें धर्म का प्रवेश नही होता । धर्म का आचरण करने का सबको समान अधिकार है । जाति और धर्म में कोई अविनाभाव नही है । धर्म तो आत्मा का स्वरूप है अतः शरीर मे कल्पित की जाने वाली जाति में उसका क्या उपयोग संभव है । जातिवाद के चक्कर से मनुष्य का पतन होता है । वस्तुत मुक्ति किसी भी जाति की अपेक्षा नही रखती । इसीलिए परमात्मा से लो लगाने वाला योगी जाति और वर्ण से रहित होता है । जाति, कुल, ज्ञान, पूजा, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठो के अभिमान का त्याग किए विना कोई भी कर्मों से रहित नहीं होता इसलिए जातिवाद के हठ को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है । तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

चतुर्थोऽध्यायः

निक्षेपस्वरूपविवेचनम्

अर्थाना शब्देषु शब्दानां चार्थेष्वारोपो निक्षेपः प्रोच्यते। आरोपो निक्षेपो न्यासो विन्यास इत्यादयो हि शब्दा पर्यायवाचिनः। प्रायो हि औपचारिकसम्बन्धरूपो निक्षेपः। निक्षेपो हि शब्देषु शब्दानां वा क्रियते। अतस्तावच्छब्दान् विवृण्वन्तिः—

नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चतुर्विधाः शब्दा प्रोक्ताः। घटः इत्यादयः शब्दाः नामशब्दाः। गच्छतीत्यादयः आख्यात-

---

चौथा अध्याय

निक्षेप के स्वरूप का वर्णन

अर्थों का शब्दों मे और शब्दो का अर्थों में जो आरोप किया जाता है वह निक्षेप कहा जाता है। आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास वगैरह पर्यायवाची शब्द हैं और उनका अर्थ रखना या आरोपण करना होता है। प्राय. निक्षेप औपचारिक सम्बन्ध रूप होता है। अथवा शब्दों में शब्दो का भी निक्षेप किया जाता है, इसलिए शब्द के प्रकारो का वर्णन किया जाता है।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से शब्द चार प्रकार के कहे गये है। घट पट वगैरह शब्द नामशब्द है। जाना आना आदि क्रिया शब्द आख्यात-शब्द हैं। प्र, परा वगैरह

शब्दाः (क्रियाशब्दाः) प्रादयश्चोपसर्गशब्दाः एवमादयश्च निपाता ।×

एतेषु चतुर्विधेषु शब्देषु निक्षेपक्रियया केवल नामशब्दानां प्रस्तारो भवति। अन्येषां शब्दानां पदार्थाऽवाचकत्वान्न तत्र निक्षेपस्य विधानं सभवेत्। तथा चोक्तं—निक्षेपविधिना नामशब्दार्थः प्रस्तूयते। नामशब्दानां न्यूनान्न्यूनं चत्वारोऽर्थाः अवश्यमेव भवन्तीति निक्षेपविधिना ज्ञायते। कोशात्तेषामितरेऽर्था भवन्तु मा वा भवन्तु, किन्तु चत्वारोऽर्थास्तु भवन्त्येव। अप्रस्तुतार्थमपाकर्तुं प्रस्तुतार्थं च व्याकर्तुं निक्षेपः फलवान्। यथा–राजा तु मम हृदये वर्तत इत्यत्र राजज्ञान हृदये वर्तते न

उपसर्ग शब्द है। एवं वगैरह निपात-शब्द है।

इन चार प्रकार के शब्दों मे निक्षेप क्रिया रूप से सिर्फ नाम-शब्दों का ही प्रयोग होता है। अन्य शब्द के जितने भी प्रकार हैं वे पदार्थ के वाचक न होने से उनमें निक्षेप का विधान नहीं होता। ऐसा ही कहा है– निक्षेप विधि से नाम शब्दों का ही प्रयोग होता है। नाम शब्दों के कम से कम चार अर्थ जरूर होते हैं– ऐसा निक्षेप विधि के द्वारा ही जाना जाता है। उनके और दूसरे अर्थ कोश से हों या न हो लेकिन चार अर्थ तो होते ही हैं। निक्षेप के मानने का यही फल है कि वह अप्रयोजनभूत अर्थ को हटाकर प्रयोजनभूत पदार्थ का व्याख्यान करता है। जैसे कि–राजा तो मेरे हृदय में मौजूद है–यहां राजा का ज्ञान हृदय मे है न कि खुद राजा, क्योंकि राजा तो हृदय में रह नहीं

× केचिज्जातिशब्दक्रियाशब्दगुणशब्दयदृच्छाशब्दभेदेन शब्दानां चातुर्विध्य प्रतिपादयन्ति। अपरे चैतेषु द्रव्यशब्दसमावेशेन पञ्चविधत्वमपि शब्दाना व्याहरन्ति। वैशेषिकास्तु एतेषु सम्बन्धिशब्दानभावशब्दाश्च समावेश्य सप्तविधत्वं समर्थयन्ति शब्दानां। केचिद् विद्वांस प्रकृतिप्रत्ययनिपातोपसर्गभेदेनाऽपि चतुष्टयत्वं वदन्ति।

न, स्वयं राजा । राज्ञो हृदये वर्तनाऽसंभवादिति राजज्ञानरूपो-ऽर्थोऽत्र प्रस्तुतः । स्वयं राजपदार्थस्तु मप्रस्तुतः । ततः प्रस्तुतार्थ-स्वीकरणाऽप्रस्तुतार्थनिराकरणार्थं निक्षेपस्यावश्यकता ।

एप निक्षेपश्चतुर्विधः, नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पादिति । तत्र लोकसव्यवहारार्थं वस्तुनः नामकरण नामनिक्षेपः । अस्मिन् हि न जातिद्रव्यगुणक्रियाणा प्रयोजकत्वं । केवलमत्र वक्तुरभि-प्राय कारणं । महावीरादयोऽभिख्या' लोकसंव्यवहारार्थं निक्षिप्ता' न खलु वीरत्वगुणप्रधाना' ।

.. ननु यदि वीरतादिगुणापेक्षया कस्यचिन्महावीर इति नाम क्रियेत तर्हि स नामनिक्षेपः स्याद् वा नवेति चेत्—स भावनिक्षेप

सकता । इस तरह यहा राजा का ज्ञान रूप ही अर्थ ग्राह्य है । खुद राजा पदार्थ तो अग्राह्य है । इसलिए प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने और अप्रस्तुत अर्थ को दूर करने के लिये निक्षेप की आव-श्यकता है ।

यह निक्षेप चार प्रकार का है- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से । इनमें लोक व्यवहार चलाने के लिए वस्तु का कुछ भी नाम रख देने को नाम-निक्षेप कहते हैं । इस निक्षेप में जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया का कुछ भी प्रयोजन नही है—सिर्फ वक्ता का अभिप्राय ही कारण है । महावीर वगैरह जो भी नाम हैं वे लोक-व्यवहार चलाने के लिए है–निश्चय से वहा वीरतादि गुणों की प्रधानता नही है ।

शंका—यदि वीरता वगैरह गुणो की अपेक्षा से किसी का महावीर नाम रखा जाय तो वह नाम-निक्षेप होगा या नही ?

समाधान—गुण की अपेक्षा अगर महावीर नाम है तो वह भाव-निक्षेप होगा न कि नाम-निक्षेप । किसी का नाम महावीर

स्थान्न तु नामनिक्षेपः। महावीरो महा-वीरोऽस्तीत्यत्र प्रथमं नाम नामनिक्षेपापेक्षया, द्वितीय तु भावनिक्षेपापेक्षया।

कस्यचिद् वस्तुनोऽन्यवस्तुनि प्रतिष्ठा कृत्वा सोऽयमित्येष न्यास स्थापनान्यास प्रोच्यते। तदतद्भावनामत स्थापना द्विविधा। प्रथमा मूर्तिचित्रादौ परा चाक्षादौ। मूर्तिमति मूर्ति-रहिते वा वस्तुनि सोऽय राजेति स्थापनाराजा प्रोच्यते।

ननु नामनिक्षेपेऽपि नामन्यासस्तथैव स्थापनानिक्षेपेऽपि स एवेति कोऽनयोर्भेद इति चेदुच्यते –

है-वह नाम निक्षेप की अपेक्षा है और वीर होने से महावीर है तो भाव-निक्षेप की अपेक्षा है।

अन्य वस्तु मे किसी वस्तु की कल्पना करके "वह यह है" ऐसी कल्पना को स्थापना-निक्षेप कहते हैं। वह स्थापना तदाकार और अतदाकार रूप से दो प्रकार की है। मूर्ति, चित्र वगैरह मे महावीर वगैरह की कल्पना तदाकार स्थापना है तो सतरंज के मोहरों मे हाथी घोडे वगैरह की कल्पना अतदाकार-स्थापना है। मूर्तिमान् अथवा मूर्ति रहित वस्तु मे वह यह राजा है, यह स्थापना राजा कहलाता है।

शका—नाम-निक्षेप मे भी नाम रखा जाता है उसी तरह स्थापना-निपेक्ष मे भी, फिर इन दोनों में क्या अन्तर है ?

समाधान—नाम-निक्षेप मे आदर अनुग्रह बुद्धि नही होती, पर स्थापना-निक्षेप में होती है। निश्चय पूर्वक महावीर नाम वाले पुरुष का महावीर भगवान की तरह आदर सत्कार नही किया जाता लेकिन महावीर की प्रतिमा का तो महावीर की तरह स्तुति भक्ति पूजा उपासना वगैरह की ही जाती है।

नामनिक्षेपे हि नादरानुग्रहाकाक्षा, स्थापनानिक्षेपे तु सा भवेदेव। न खलु महावीरनामवतः पुरुपस्य महावीरवदादरादि क्रियते। महावीरप्रतिमायास्तु महावीरवत् स्तुतिभक्तिपूजोपासनादि क्रियत एव।

न च केचिन्मूर्तावपि आदरानादरौ न कुर्वन्तीतिवाच्यम्। ये मूर्त्यादिषु स्थापनां न कुर्वन्ति तेषा तत्रादरानादरादिसंभावनैव न विद्यते। ये तु स्थापनारोपं कुर्वन्ति तत्र तेषामादरानादरादिर्भवत्येव।

ननु केचिन्नामधेयेऽप्यादरबुद्धि कुर्वन्तीति कथमुच्यते स्थापनायामेवादरानारादिवुद्धिर्भवतीति चेन्न।

कई मूर्ति मे भी आदर अनादर नही करते, ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि जो मूर्ति वगैरह में स्थापना नही करते उनके लिए तो आदर अनादर का प्रश्न ही नही उठता। लेकिन जो स्थापना का आरोप करते है उनका उस वस्तु में आदर-अनादर होना ही है।

शंका—कई लोग नामधारी का भी आदर अनादर करते देखे जाते हैं-तब यह कैसे कहा जा सकता है कि स्थापना मे ही आदर-अनादर भाव होता है?

समाधान—ऐसा कहना युक्ति संगत नही, क्योंकि उस देव नामक पदार्थ मे अगर लोग महान् भक्ति के कारण आदर भाव करते है तो वह स्थापना-निक्षेप ही है नाम-निक्षेप नही।

शंका—विद्वान् लोग नाम वाले पदार्थं की स्थापना किया करते हैं–वह नाम का व्यवहार तो चारो ही निक्षेपों से होता है। इसलिए कौन से नाम वाले पदार्थं की स्थापना की जाती है ?

तद्दैवनामकं ह्यथ जना अतिभक्तिवशाच्चेत् तादृशीं भक्तिं कुर्वन्ति तर्हि स स्थापनानिक्षेप एव न तु नामनिक्षेपः।

अथ नामवतोऽर्थस्य विद्वद्भिः स्थापना क्रियते। नाम्नो व्यवहारस्तु-चतुर्भिन्यासैर्भवति। अतोऽत्र कीदृङ् नामवतोऽर्थस्य स्थापना विधीयते इतिचेदुच्यते—

चतुर्विधेष्वपि नामसु स्थापनां कर्तुं शक्यते। महावीरादि-पूज्यानां या मूर्त्यादौ स्थापना क्रियते सा नामनिक्षेपनिक्षिप्त-नामधेयवतामस्ति। या च महावीरादिप्रतिमाचित्रे महावीरादे स्थापना क्रियते सा स्थापनानिक्षेपनिक्षिप्तनामवतामस्ति। द्रव्य-निक्षेपतो युवराजोऽपि राजा प्रोच्यते। अतो युवराजस्य मूर्त्यादौ राजाख्या स्थापना द्रव्यनिक्षेपनिक्षिप्तनाम्न स्थापना ज्ञातव्या। भावनिक्षिप्तराजस्य या स्थापना सा भावनिक्षेपनिक्षिप्तनाम-वतः स्थापना प्रोच्यते। एषा स्थापमा नित्याऽपि भवति अनि-त्याऽपि च। नन्दीश्वरादिद्वीपस्थितनित्यचैत्यादीनां स्थापना

समाधान—चारो ही प्रकार के नामों में स्थापना किया जाना संभव है। जो मूर्ति वगैरह मे महावीरादि पूज्य पुरुषो की स्थापना की जाती है वह नामधारियों की नाम निक्षेप के द्वारा स्थापना है। और महावीर वगैरह के प्रतिमा या चित्र में जो महावीर वगैरह की स्थापना की जाती है वह नाम धारियों की स्थापना निक्षेप से रखी गई स्थापना है। द्रव्य निक्षेप से युवराज को भी राजा कहा जाता है; इसलिए युवराज की मूर्ति वगैरह मे राजा नाम की स्थापना द्रव्य निक्षेप द्वारा कायम की गई स्थापना जाननी चाहिये। जो स्थापना भाव निक्षेप द्वारा राजा की की जाती है वह स्थापना भाव निक्षेप के द्वारा रखी गई स्थापना कही जाती है। यह स्थापना नित्य भी होती है और अनित्य भी। नंदीश्वर वगैरह द्वीपो में जो शास्वत चैत्या-

नित्या। अनित्यचित्रादीना चानित्येति।

अनागतपर्यायविशिष्टं द्रव्यं हि द्रव्यनिक्षेप इत्युच्यते। एष द्विविध: आगमद्रव्यनिक्षेपो नोआगमद्रव्यनिक्षेपश्चेति। तत्र तद्विषयकप्राभृतज्ञाताऽनुपयुक्त आत्मा प्रथम:। यथा राजज्ञानविशिष्टोऽनुपयुक्तो मनुष्य आगमद्रव्यराजा। अत्र हि विपयिणि ज्ञाने विपयस्य ज्ञेयपदार्थस्योपचारो विधीयते। विपयविपयिभावसम्बन्धेन राजज्ञानमेव राजा प्रोच्यते। राजा तु मम हृदये वर्तत इत्यत्र राजज्ञानस्य हृदये वर्तनत्वसंभवो न तु राज्ञ:। तस्य तत्र वर्तनासंभवादिति पूर्वमुक्तं।

दिक की स्थापना है वह नित्य है, और अनित्य चित्र वगैरह मे जो स्थापना है वह अनित्य है।

जो पदार्थ आगामी काल में जिस रूप से होगा उस पदार्थ को वर्तमान में भी उसी रूप से व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप कहलाता है। भावी पर्याय के समान भूत पर्याय भी द्रव्य निक्षेप का विषय है। इस निक्षेप के आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम द्रव्य निक्षेप, इस तरह दो भेद हैं। इनमें उस विषय के शास्त्र का ज्ञाता पर उसके उपयोग से रहित जो आत्मा है वह आगम द्रव्य निक्षेप है। जैसेकि राजज्ञान से संयुक्त लेकिन उसके उपयोग से रहित मनुष्य आगम द्रव्य राजा है। निश्चय से यहां विपयी-ज्ञान में विषय-ज्ञेय पदार्थ का उपचार किया गया है क्योंकि विषय विषयी सम्बन्ध से राज ज्ञान को ही राजा कहते हैं। राजा तो मेरे हृदय में मौजूद है—इसमे राजा का ज्ञान ही हृदय में हो सकता है न कि राजा क्योंकि राजा हृदय में रह नहीं सकता—ऐसा पहले कहा है।

ननु यदि ज्ञाने ज्ञेयोपचारस्तदा ज्ञाने निक्षेपत्व भवितव्यम्, ज्ञातुर्निक्षेपत्व कथमिति चेन्न, यद्यपि ज्ञाने ज्ञेयोपचारेण, तज्ज्ञानं तद्वस्तु प्रोच्यते, तथापि तज्ज्ञानं ज्ञात्राश्रयमिति ज्ञाताऽऽत्मैवागमनिक्षेपो व्यवह्रियते ।

द्वितीयो नो आगमद्रव्यनिक्षेपस्त्रिविध:, ज्ञातृशरीरं, भावि, तद्व्यतिरिक्त चेति। तत्र प्रथमेन राजज्ञातुः शरीरं राजा कथ्यते । ज्ञातृकाययोरेकक्षेत्रावगाहसम्बन्धत्वात् ज्ञातुः त्रिकाल-गोचरशरीरमस्य विषयः ।

कार्यस्योपादानं भावि नोआगमद्रव्य, अनेन युवराज एव राजा प्रतिपाद्यते । तस्य भाविराजत्वात्, राज्ञ उपादानकारण-

---

शंका—यदि ज्ञान मे ज्ञेय का उपचार किया जाता है तब तो ज्ञान मे निक्षेपपना होना चाहिए फिर ज्ञाता को निक्षेपत्व कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही । यद्यपि ज्ञान में ही ज्ञेय का उपचार करने से उस ज्ञान को ही निक्षेप कहा जाना चाहिए-फिर भी वह ज्ञान ज्ञानी के आश्रय है-ज्ञाता को छोड़-कर अलग रहता नही; इसलिए ज्ञाता आत्मा को ही आगम-निक्षेप कहा जाता है ।

दूसरा नोआगम द्रव्य-निक्षेप तीन तरह का है—ज्ञातृशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्ति । इनमें ज्ञाता राजा के शरीर को राजा कहा जाना-ज्ञातृ-शरीर है । ज्ञाता और शरीर के एक-क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से ज्ञाता का त्रैकालिक शरीर इसका विपय है ।

कार्य का जो उपादान कारण है वह भावि नोआगम द्रव्य है-इसके द्वारा युवराज ही राजा कहा जाता है, क्योंकि भविष्य में वही राजा होने वाला है और वही राजा का उपादान

त्वाच्च । अत्र ह्युपादानोपादेयभावस्य प्रयोजकत्वमिति ।

पदार्थस्य निमित्तकारणादीनि हि तद्व्यतिरिक्तनोआगम-द्रव्यनिक्षेपः । यथा राजदेहादयो राजेति । अनेन हि न केवलं राजशरीरमपि तु राजमाता राजपिता तस्यान्यान्यपरिकरादीन्यपि राजा प्रोक्तुं शक्यंते । अत्र हि इदमवधेयं यच्छुद्धपदार्थानां तद्व्यतिरिक्तनिक्षेपो न भवति यथा मुक्तात्मनामिति । एवमेव नित्यपदार्थेषु नोआगमद्रव्यनिक्षेपस्य भाविनामा भेदो न घटते । तेषामुपादेयत्वाभावान्न च तत्रोपादनस्यावश्यकता ।

ननु स्थापनानिक्षेपाद् द्रव्यनिक्षेपस्य को भेद इति चेदयं भेदः स्थापना हि भिन्नयोर्भवति । द्रव्यनिक्षेपश्चाभिन्नयोरिति । ननु

कारण है । यहां उपादान उपादेय भाव का ही प्रयोजन है ।

पदार्थ के जो निमित्त कारण होते हैं वह तद्-व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य-निक्षेप है, जैसे राजा के शरीर वगैरह को राजा कहना । इस निक्षेप के द्वारा न केवल राजा का शरीर ही अपितु राजा की माता, राजा का पिता और उसके अन्य कुटुम्बी भी राजा के नाम से कहे जा सकते हैं । निश्चय से यहा इतना और समझ लेना चाहिए कि जो भी शुद्ध पदार्थ हैं उनका तद्व्यतिरिक्त निक्षेप नहीं होता जैसे कि मुक्त आत्माओं का । इसी तरह नित्य पदार्थों में नोआगम द्रव्य निक्षेप का जो भावि नामा भेद है वह घटित नही होता । उनमे जब उपादेयत्व नहीं है तो वहा उपादान की आवश्यकता ही क्या है ।

स्थापना-निक्षेप से द्रव्य-निक्षेप का क्या भेद है—ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर है कि स्थापना भिन्न पदार्थों में होती है तो द्रव्य-निक्षेप अभिन्न पदार्थों में । यदि इस आधार पर इस युक्ति

भैवतामियं युक्तिर्न समीचीना यद्द्रव्यनिक्षेपोऽभिन्नयोरेव भवतीति। यथा देव-देवप्रतिमयोर्भिन्नत्वं तथा राजराजशरीरयोरपि भिन्नत्वमिति चेन्न—

ज्ञानज्ञेयादिसम्बन्धैर्भिन्नयोरपिवस्तुनोरभिन्नत्वोपचारेणाभिन्नत्वख्यातयोर्द्रव्यनिक्षेपो भवति। न चेदृशीस्थापना, स्थापनायामभिन्नत्व निक्षेपतः क्रियते। द्रव्यनिक्षेपे त्वभिन्नत्वमुपचारतः पूर्वमेवास्ति। पूर्वत्राभिन्नता कार्यमुत्तरत्र तु सा कारणमित्यनयोर्भेदः।

वर्तमानपर्यायसंयुक्तं द्रव्यं भावनिक्षेप.। स पूर्ववद् द्विविधः, आगमभावनिक्षेपो नोआगमभावनिक्षेपश्चेति। तत्र तत्प्राभृत-

---

को असत्य ठहराया जाय कि भिन्न भिन्न पदार्थों का भी द्रव्य निक्षेप होता है—जैसे कि देव और देव की प्रतिमा में भिन्नत्व है वैसे ही राजा और राजा के शरीर में भी भिन्नता है, तो ऐसा कहना भी युक्ति-संगत नहीं है।

ज्ञान ज्ञेयादि सम्बन्धो से भिन्न भिन्न वस्तुओ में भी अभिन्नत्व का उपचार होने से जो अभिन्न प्रसिद्ध हैं उन्ही में द्रव्य निक्षेप होता है। स्थापना ऐसी नही होती। स्थापना में तो अभिन्नता निक्षेप के द्वारा की जाती है। द्रव्य-निक्षेप में तो अभिन्नता उपचार से पहले मौजूद रहती है। द्रव्य-निक्षेप में अभिन्नता कार्य रूप है जब कि स्थापना में वह कारण रूप है—यह इन दोनों में भेद है।

वर्तमान पर्याय के द्वारा उपलक्षित पदार्थ को भाव-निक्षेप कहते है। अर्थात् वर्तमान मे जो पदार्थ जिस पर्याय सहित है उसको उसी पर्यायवाला कहना भाव-निक्षेप है। उसके भी आगम-भाव-निक्षेप और नो-आगम-भाव-निक्षेप इस प्रकार

ज्ञायी सोपयोग आत्मा प्रथमो यथा राजज्ञानेन सयुक्तः सोपयोगो मनुष्यो भावागमराजा। द्वितीयस्तु तत्पर्यायात्मकं वस्तु यथा वर्तमाने राज्य कुर्वन् राजा निगद्यते।

ननु नामनिक्षेपभावनिक्षेपयो. को भेद इति चेदुच्यते–नामनिक्षेपे व्यक्तिवाचकत्वं भवति भावनिक्षेपे तु भाववाचकत्वं जातिवाचकत्वं वा।

भावनिक्षेपे ज्ञायकशरीरप्रभृतयो भेदा द्रव्यनिक्षेपवन्न भवन्तीतिद्रव्यनिक्षेपादप्यस्य भेदोऽस्ति। अस्य केवलं वर्तमानपर्यायेणैव संबधोऽस्ति।

अथ नयनिक्षेपयो. कः सम्बन्ध। उच्यते–नयोहि ज्ञानात्मको

दो भेद है। इनमें उस विषय का ज्ञाता और उसी का उपयोग करने वाला आत्मा आगम-भाव-निक्षेप है–जैसे राज-ज्ञान से सहित और उसका उपयोग करने वाला मनुष्य भाव-आगम राजा है। वर्तमान पर्याय रूप जो वस्तु है वह नो-आगम-भाव-निक्षेप है जैसे वर्तमान में राज्य करने वाले को राजा कहना।

नाम-निक्षेप और भाव-निक्षेप में क्या भेद हैं ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर है कि नाम–निक्षेप मे व्यक्ति का कथन होता है जब कि भाव-निक्षेप में भाव या जाति का कथन होता है।

द्रव्य निक्षेप की तरह ज्ञायक शरीर वगैरह भेद भाव निक्षेप में नही होते, इसलिए द्रव्य निक्षेप से भाव निक्षेप भिन्न सिद्ध हो जाता है। इस भाव निक्षेप का तो मात्र वर्तमान पर्याय से ही सम्बन्ध है।

नय और निक्षेप मे क्या सम्बन्ध है ऐसा प्रश्न होने पर कहा जाता है। निश्चय से नय ज्ञानात्मक होता है और निक्षेप

निक्षेपस्तु ज्ञेयात्मकः । अत एतयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धोऽस्ति । निक्षेपो हि वाच्यवाचकसम्बन्धस्थापनायाः क्रिया । स नयस्य विषयो नयस्तु तस्य विषयी । आद्यास्त्रयो निक्षेपा द्रव्यार्थिकनयविषयाः । अन्तिमश्च पर्यायार्थिकनयगोचरः । बालाद्यवस्थाभिन्नेऽपि मनुष्ये नाम्नोऽविच्छेददर्शनादन्वयित्वं दृश्यते इति नामनिक्षेपो द्रव्यार्थिकविषयः । तथैव तीर्थंकरप्रतिमादौ कालभेदेऽपि स्थापनायाः दर्शनादन्वयित्वमिति स्थापनानिक्षेपस्याऽपि द्रव्यार्थिकविषयत्वं युक्तिसंगतम् । भावनिक्षेपे तु नैतादृशमन्वयित्वं दृश्यत इति तस्य पर्यायार्थिकप्रमेयत्वं संगतमेवेति ।

जैनदर्शनसारेऽस्मिन् प्रमाणनयलक्षण—
निक्षेपाः वर्णिताः सम्यक् समासात्तत्त्वसप्तकम् ।

ज्ञेयात्मक—इसलिए दोनों में विषय विषयी भाव सम्बन्ध है। वाच्य वाचक सम्बन्ध स्थापना की जो क्रिया है वह निक्षेप होता है—वह नय का विषय है और नय उसका विषयी । पहले के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और चौथा पर्यायार्थिक नय का विषय है । मनुष्य पर्याय में बचपन जवानी वगैरह अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी नाम का बिच्छेद न होने से अन्वयीपना है इसलिए नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है । इसी प्रकार तीर्थंकर की प्रतिमा वगैरह में काल की भिन्नता होने पर भी स्थापना में अन्तर नहीं पड़ने से अन्वयीपना है अतः स्थापना निक्षेप का भी द्रव्यार्थिक नय का विषय होना तर्क संगत है ही । भाव निक्षेप में तो ऐसा अन्वयीपना संभव नहीं होता इसलिए उसका पर्यायार्थिक नय का विषय होना सिद्ध ही है ।

इस जैनदर्शनसार ग्रन्थ मे प्रमाण, नय, लक्षण, निक्षेप तथा सात तत्त्वो का संक्षेप में सम्यक् निरूपण किया गया है ।

अस्यां कृतौ मेऽस्ति न किञ्चनापि,

यदस्ति किञ्चित्खलु तत् परेषां ।

मया कृतः केवलसंग्रहोऽत्र

पुरातनग्रंथकृतां कृतीनाम् ।

।। इति ।।

ग्रन्थ के रचयिता जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् जयपुर निवासी श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस ग्रन्थ के निर्माण में मेरा अपना कुछ भी नहीं है—जो कुछ भी है वह सब दूसरों का है। प्राचीन ग्रन्थ निर्माताओं की कृतियों का मैंने यहां मात्र सार संग्रह किया है। मैं उन सब ग्रन्थकारों का महान् कृतज्ञ हूँ।

।। इति ।।

JAIN DARSHANASAR

NOTES.

PAGE 1 LINE 4. सन्मति Bhagawan Mahavira. When the Tirthamkara was a child, two Charana Munis, Jayanta and Vijaya, who had philosophical doubts, paid a visit to the Lord When they saw the Divine Child, all their doubts were cleared and they called Him, Sanmati

PAGE 2 LINE 10 चतु:प्राण Four kinds of life principles are Indriya (senses), Bala (strength), Ayu (duration of life) and Svasochhvasa (Respiration). These four pranas become ten when the details are taken into consideration. The senses are five viz touch, taste, sound, smell and sight. Strength is of three kinds viz., of mind, speech and body. The five senses, the three kinds of strength, age and respiration form the ten pranas.

PAGE 4 LINE 6 उपयोगमयत्व Upayoga is defined as the manifestation of consciousness through Know'edge and Perception, Jnana and Darshana. It is the characteristic of Atma and not of Prakriti which is by nature nonsentient.

PAGE 5 LINE 6 अमूर्तित्वं Formlessness The Jiva is formless since it has no colour, taste, smell and touch. It is not the resultant or the combination of earth, water, fire and air as these are devoid of consiousness, where as a Jiva is found to be having consciousness. A child on the very day of its birth, manifests its desire for drinking its

mother's milk. This desire is due to pratyabhijnana which is again due to Smarana. Smarana is the rememberance of an object, whereas Pratyabhijnana is the recognition of an object by observing its special characteristics. The existence of the spirits such as Bhutas and Pisachas goes to establish the existence of Atma and it's immortality. According to the realistic point of view, Jiva is without form, because the five kinds of colour and taste, two kinds of smell and eight kinds of touch are not present in it. But according to the ordinary point of view it has form through the bondage of karmas.

PAGE 7 LINE 9. कर्त्तृत्वं According to the ordinary point of view Jiva is the doer of pudgala karmas. But according to Shuddha nischaya naya (pure realistic point of view) the Jiva is the agent of pure feelings, while according to ashuddha nischaya naya (impure realistic view) it is the cause of impure feelings like attachment, aversion etc.

PAGE 8 LINE 7. स्वदेह—परिणामत्व Jiva is coextensive with the body it occupies.

PAGE 13 LINE 1 भोक्तृत्वं According to the ordinary point of view the Jiva experiences the results of its own good or bad actions. According to the realistic point of view the Jiva has the experience of its conscious state.

PAGE 13 LINE 6. उर्द्ध्वगतिस्वभावत्वं The Jiva has by its nature the tendency to go upwards. But because of its association with karmas which bind it, it has to roam about in Samsara or worldly existence. The karmic bondage is of four kinds, Prakriti,Pradesha,Sthiti and Anubh-

aga Prakriti Bandha refers to the nature or kinds of karma binding a soul. Pradesha Bandha is the bondage of the mass of Karma Sthiti is the duration of the bondage Anubhaga refers to the intensity of the bondage whether mild, mediocre or intense. When the soul is rid of all bondage, it rises up to the summit of the world. Samsari Jivas are souls bound by karmas When they die and when they have to take new births they are said to have movements in directions, excluding vidisas They can move along the cardinal points and up and down These are called the अनुश्रेणिया the ladder paths. Jivas are classified under two heads, Samsari and Mukta, the unliberated and the liberated.

PAGE 14 LINE 6 चतुर्दश जीवसमास Fourteen classes of Jivas. Samsari Jivas are divided into two classes Sthavara and Trasa. Sthavara Jivas have only one sense viz. the sense of touch. For example earth, water, fire, air and vegetables have one sense only. They are again either gross or very subtle (invisible) Each of these is again divided into two classes Paryapta (developed) and Aparyapta (undeveloped). Trasa Jivas are of five kinds, those having two, three, four, five senses such as worm ant, bee and man respectively, and those having five senses and mind Each of those is again divided into two classes, Paryapta (developed) and Aparyapta (undeveloped). Thus we have on the whole fourteen classes of Jivas or souls

चतुर्दश मार्गणास्थान Fourteen Marganasthanas or conditions in which Jivas are found. They are (1) Gati (2) Indriya (3) Kaya (4) Yoga (5) Veda (6) Kashaya (7) Jnana (8) Samyama (9) Darshana (10) Leshya (11) Bhavya (12) Samyaktva (13) Sanjni (14) Ahara.

चतुर्दश—गुणस्थान Fourteen stages of spiritual development They are—

(1) मिथ्यात्व In the first stage, a person has no belief in the true doctrines.

(2) सासादन This is a stage of transition. A person who loses true belief and comes to entertain false doctrines, passes through this stage

(3) मिश्र A person in this stage has true and false belief in a mixed way

(4) असयत सम्यग्दृष्टि A person who is in this stage has faith in the true doctrines and has to control the moderate or slight degrees of anger etc.

(5) सयतासयत A person who is in this stage is able to control moderate degrees of passions and succeeds in having greater self-control than those in the fourth stage.

(6) प्रमत्त—सयत A person has all possible control over self and begins to refrain from injury, falsehood, theft, lust and a desire for worldly possessions.

(7) अप्रमत्त—सयत In this stage the tendency to be attached to outer things is thoroughly overcome. There is perfect self control and spiritual strength is firmly established. Manah-paryaya-jnana (telepathic knowledge of other's mind) appears only in a person who has reached this stage.

(8) अपूर्वकरण A person in this stage may be

either on the path of annihilatian ar on that of pacification of Karmas.

(9) अनिवृत्तिकरण Equipped with Shukla Dhyana, a person in this stage destroys the grosser forms of desires and impulses of the soul.

(10) सूक्ष्मसापराय In this stage, the gross and subtle desires may either be rooted out or suppressed.

(11) उपशांत कषाय Due to the suppression of Karmas, a person in this stage gets spiritual peace.

(12) क्षीण कषाय In this stage all the passions are destroyed.

(13) सयोग केवली A person in this stage attains omniscient knowledge But he has the activities of the mind, speech and body.

(14) अयोग केवली In this stage yoga (activity) disappears and after that the Siddha state is achieved

PAGE 14 LINF 10 सिद्धत्व Siddha-hood or Godhood.

गुप्ति—Restraint of body, speech and mind. समिति Carefulness

धर्म Observance of the ten kinds of excellent virtues.

अनुप्रेक्षा Twelve kinds of reflections.

परिषहजय Conquering the twenty-two kinds of troubles, चारित्र Conduct.

PAGE 14 LINE 11. वाह्य तप Six kinds of external austerities अभ्यन्तर तप Six kinds of internal austerities. शुल्क ध्यान is pure meditation on the true nature of reality.

When the eight kinds of Karmas binding a Jiva are destroyed it becomes a ***Siddha*** possessing eight infinite qualities. It is slightly less than the final body from which it got liberation and is eternal in its essential character. It goes up to the summit of Loka and there remains stationary. The eight kinds of karmas are 1. ***Jnanavaraniya*** which obscures knowledge of a Jiva, 2. ***Darshanavaraniya*** which obscures the perception, 3 ***Mohaniya*** which infatuates Jivas and makes them unable to distinguish right from wrong, 4. ***Antaraya***-that produces obstacles in the way of a Jiva's action 5. ***Vedaniya*** which causes pain or pleasure for a soul 6. ***Ayu-Karma*** which determines the age of a Jiva in a particular body 7 ***Nāma Karma*** is that which determines the shape, colour etc of the body in which a Jiva is to be born, 8 ***Gotra Karma*** is that which brings about the birth of a Jiva in a high or low social status.

PAGE 20 LINE 3 कर्म नोकर्म Karmas and No karmas Karmas have already been explained. Nokarmas are defined as karmas which help the soul to experience the result of the karmas.

PAGE 20 LINE चतुर्गति Four Conditions of existence as (1) Celestial beings, (2) human beings, (3) Sulehuman beings and (4) Hellish beings.

PAGE 20 LINE 7 धर्म्य शुक्ल ध्यान Dharma Dhyana or Righteous Concentration, and Shukla Dhyana or Pure Concentration, Righteous Concentration is of four kinds— (1) आज्ञाविचय Contemplation on the teachings of the

Arhat. (2) अपायविचय Contemplation on how the universal wrong belief, knowledge and conduct of the people can be removed (3) विपाकविचय Contemplation on the fruition of the eight kinds of karmas. (4) सस्थानविचय Contemplation on the nature and constitution of the Universe शुक्ल ध्यान is also of four varieties. (1) पृथक्त्ववितर्कवीचार Meditation of the Self, unconsciously allowing its different attributes to replace one another. (2) एकत्ववितर्कवीचार Meditation on one aspect of the Self without changing the particular aspect (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति Deep meditation of the Self in the Sayoga Kevali Gunasthana when there is very subtle activity of the body. (4) व्युपरतक्रियानिवृत्ति. Total absorption of the Soul in itself, steady and undisturbably fixed without any motion or vibration whatsoever, in the Ayoga Kevali Gunasthana

PAGE 21 LINE 2 असंयमी un-self-controlled, संयमासयमी Partial self...controlled. सयमी.. Self controlled.

PAGE 22 LINE 3. पच परमेष्ठी Five supreme beings. They are Arhat, Siddha, Acharya, Upadhyaya and Sadhu. An Arhat is that pure soul which has an auspicious body, has destroyed the four Ghati Karmas and has the four infinite qualities of knowledge, perception, happiness and power A Siddha is one who is bereft of the bodies produced by eight kinds of Karma, is the seer and knower of Loka and Aloka, has a shape like that of a human being and stays at the summit of the universe. An Acharya is one who practises the five Acharas (kinds of conduct) and instructs his disciples to do the same. An Upadhyaya is one who is always engaged in teaching the tenets of Jainism to others

and who is possessed of right faith, right knowledge and right conduct. A Sadhu is one who is always engaged in practising perfect conduct based on perfect faith and perfect knowledge and doing penances.

LINE 5. सशरीर परमात्मा Supreme Self with body अशरीर परमात्मा Supreme Self without body.

LINE 7 घातिकर्म Karmas which destroy the natural characteristics of the soul. Tirthamkaras and other omniscient beings in the 13th and 14th stages of spiritual development (gunasthanas) are called Sasharira Paramatma. That Paramatman with body, in the 13th Gunasthana, who shows the path to the believing souls, to cross the ocean of births and deaths, is called Tirthamkara. He is also called by the names of Arhat, Jinendra and Apta.

PAGE 23 LINE 7. अशरीरपरमात्मा is Siddha.

PAGE 24 LINE 2 पुद्गल (metter), धर्म (principle of motion) अधर्म (principle of rest), आकाश (Space), and काल (Time) These five together with Jiva or Soul form the six Dravyas or substances. That which has qualities and modes is called सत्, real substance. It has the characteristic of persistence through change. Its intrinsic qualities are always permanent, but its modifications appear उत्पाद and disappear व्यय. For example a lump of gold has the intrinsic qualities of yellow colour and malleability which never change. But the lumpness of the gold may disappear (vyaya) and take the form of a claim (utpada). This chain may be destroyed (vyaya) and made into a cup (utpada). Dravya is that which has a permanent substantiality which manifests through

the changes of appearing and disappearing, Utpada (appearance) Vyaya (disappearance) and Dhrouvya (Permanency) form the three-fold nature of the real

LINE 8 पुद्‌गल has the characteristics of colour, taste, smell and touch.

PAGE 25 LINE 1 शब्द is not the quality of Akasa Sound is a kind of matter and is perceptible to the sense of hearing. Because of its material nature it is obstructed by walls and interrupted by opposite wind.

PAGE 25 LINE 9. पुण्य and पाप Karmas are also modifications of matter

PAGE 26 LINE 9. तम (darkness), छाया (Shade) आतप (sunlight) and उद्योत (moon-light) are also forms of matter as these are perceptible to the senses

PAGE 27 LINE 1 Pudgala is of two kinds, स्कन्ध and अणु molecules and atoms. An atom is defined as an indivisible particle of matter occupying one pradesha or point in space. Molecules are formed by the combination of two or more atoms.

PAGE 28 LINE 8 धर्माधर्मसिद्धि Existence of Dharma and Adharma Dharma and Adharma are two substances forming the principles of motion and rest respectively. They are eternal, formless and existing throughout the world-space. In the same way as water helps the movement of fish, Dharma helps the movement of moving Jivas and Pudgala. It is not moving in itself and not imparting motion to anything, but assists the movement of Jivas and Pudgala. Without

and who is possessed of right faith, right knowledge and right conduct. A Sadhu is one who is always engaged in practising perfect conduct based on perfect faith and perfect knowledge and doing penances.

LINE 5. सशरीर परमात्मा Supreme Self with body अशरीर परमात्मा Supreme Self without body.

LINE 7 घातिकर्म Karmas which destroy the natural characteristics of the soul. Tirthamkaras and other omniscient beings in the 13th and 14th stages of spiritual development (gunasthanas) are called Sasharira Paramatma. That Paramatman with body, in the 13th Gunasthana, who shows the path to the believing souls, to cross the ocean of births and deaths, is called Tirthamkara. He is also called by the names of Arhat, Jinendra and Apta.

PAGE 23 LINE 7. अशरीरपरमात्मा is Siddha.

PAGE 24 LINE 2. पुद्गल (metter), धर्म (principle of motion) अधर्म (principle of rest), आकाश (Space), and काल (Time) These five together with Jiva or Soul form the six Dravyas or substances. That which has qualities and modes is called सत्, real substance. It has the characteristic of persistence through change. Its intrinsic qualities are always . anent, but its modifications appear उत्पाद and disappear . For example a lump of gold has the intrinsic qualities of yellow colour and malleability which never change. But the lumpness of the gold may disappear (vyaya) and take the form of a clain (utpada). This chain may be destroyed (vyaya) and made into a cup (utpada). Dravya is that which has a permanent substantiality which manifests through

the changes of appearing and disappearing, Utpada (appearance) Vyaya (disappearance) and Dhrouvya (Permanency) form the three-fold nature of the real

LINE 8 पुद्गल has the characteristics of colour, taste, smell and touch.

PAGE 25 LINE 1 शब्द is not the quality of Akasa. Sound is a kind of matter and is perceptible to the sense of hearing. Because of its material nature it is obstructed by walls and interrupted by opposite wind.

PAGE 25 LINE 9. पुण्य and पाप Karmas are also modifications of matter

PAGE 26 LINE 9. तम (darkness), छाया (Shade) आतप (sunlight) and उद्योत (moon-light) are also forms of matter as these are perceptible to the senses.

PAGE 27 LINE 1 Pudgala is of two kinds, स्कन्ध and अणु molecules and atoms. An atom is defined as an indivisible particle of matter occupying one pradesha or point in space. Molecules are formed by the combination of two or more atoms.

PAGE 28 LINE 8 धर्माधर्मसिद्धि Existence of Dharma and Adharma Dharma and Adharma are two substances forming the principles of motion and rest respectively. They are eternal, formless and existing throughout the world-space. In the same way as water helps the movement of fish, Dharma helps the movement of moving Jivas and Pudgala. It is not moving in itself and not imparting motion to anything, but assists the movement of Jivas and Pudgala. Without

Dharma dravya the movement of Jivas and Pudgala would be impossible As shade assists the staying of travellers, Adharma assists the staying of Jivas and Pudgala. It does not stop the motion of Jivas and Pudgala, but assists them in staying still while they are in a state of rest These two metaphysical principles of motion and rest have nothing to do with Punya and Papa which are purely ethical in character.

PAGE 32 LINE 2 आकाशद्रव्यम् The substance of Space. That which gives space to all Jivas, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala and is eternal and pervasive is called Akasa or Space.

PAGE 33 LINE 1 एवभूतनय This is the last and the seventh of the Nayas. Naya is defined as a means of insight into the nature of reality from a particular point of view. According to the एवंभूतनय the term must just designate the particular aspect or attitude in the object referred to.

LINE 10. Akasa is of two kinds, लोकाकाश and अलोकाकाश Lokakasa is that in which Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala exist. That which is beyond this Lokakasa is called Alokakasa.

PAGE 34 LINE 4. अस्तिकाय The four non-living substances Pudgala Dharma, Adharma and Akasa together with Jiva form the five अस्तिकाय. An Astikaya is defined as that which exists and has many Pradeshas like a body. Dharma, Adharama and Jiva have innumerable, pradeshas, Akasa has infinite pradeshas. Pudgala has numerable, innumerable and infinite pradeshas. A pradesha is that portion of Akasa (space) which is occupied by one indivisible atom of matter.

PAGE 35 LINE 1 कालद्रव्यम् The substance of Time It has the characteristics of वर्तना or continuity. It is the determining cause of changes in substances. It does not cause the changes but only assists the changes to be produced. Time is of two kinds. परमार्थ काल (absolute time) and व्यवहार काल (relative time). Vyavahara Kala is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications produced in substances. The points of time (कालाणु), like heaps of jewels, exist one by one in each pradesha of Lokakasa. These Kalanus (instants of time) do not have the qualities associated with physical objects. The time series formed by instants is mono—dimentional in the language of the Mathematicians. That is why Time is denied Kayatva by the Jaina Philosophers. Time which is so constituted by Instants is called परमार्थ काल.

PAGE 37 LINE 10 मन (mind) is of two kinds द्रव्यमन and भावमन. Dravya Mana is physical and material in character, while Bhava Mana is identical with knowledge which is the characteristic of Atma.

PAGE 40 LINE 6. आस्रवतत्त्वम् Asrava is defined as the flowing in of the karmic particles into the soul. It is of two kinds, भावास्रव and द्रव्यास्रव Bhavasrava refers to the virtuous or vicious feeling of the soul. Dravyasrava refers to the actual karmic particles flowing into the soul.

PAGE 42 LINE 5. बन्धतत्त्वम् That conscious state by which Karma is bound with the soul is called

बन्ध. The interpenetration of the Pradeshas of Karma and of the soul is described as द्रव्य बन्ध ।

PAGE 45 LINE 3. संवरतत्वम् Stoppage of the influx of Karmas into the soul. Samvara is the antogonistic principle of Asrava. That modification of consciousness which is the cause of checking Asrava is surely Bhavasamvara. The actual stopping of the inflow of Karmic particles is known as Dravya Samvara.

LINE 10. निर्जरातत्वम्. The destruction of Karmas. That modification of the soul by which the karmic particles disappear after yielding their results and also the destruction of karmas by penance is called Bhava Nirjara. The actual destruction of the karmic matter is said to be Dravya Nirjara.

PAGE 46 LINE 4. मोक्षतत्वम् That modification of the soul which is the cause of the destruction of all the karmas is Bhava Moksha. The actual separation of the soul from all karmas is Dravya Moksha. According to Vyavahara Naya the three jewels of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct are the causes of Moksha. But according to Nischaya Naya, the soul itself possessing the three jewels is the cause of Moksha. The three Jewels (Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct) do not exist in any other substance excepting the soul. Therefore the soul only is the cause of liberation. Right Faith is the belief in the Tattvas. This is a quality of the soul and when this arises, Jnana (knowledge) being free from errors surely becomes perfect

PAGE 47, LINE 5. सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge) is the detailed cognition of the real nature of the soul and the non-soul, and is free from Samsaya (doubt). Viparyaya (perversity) and Anadhyavasaya (indefiniteness). Samsaya consists of doubt when the mind sways between one thing and another without being able to assert the true nature of anything e. g. doubting whether the object seen at a distance is a man or a post. Viparyaya is the cognition of an object as something which is quite the contrary of its real self, e. g. thinking nacre to be silver. Anadhyavasaya is knowledge of something without any clear idea as to what it is really, e. g. touching something without knowing what it is.

PAGE 47, LINE 5. सम्यक्चारित्र According to Vyavahara Naya Samyak Charitra consists of Vratas (Vows), Samitis (attitudes of carefulness) and Guptis (Restraints) and refrains from pursuing what is harmful. But according to Nischaya Naya the checking of external and internal actions is Samyak Charitra

LINE 8. वाह्यक्रिया external actions such as committing the five sins. Abhyantara Kriya—internal actions such as three kinds of Yoga of body, speech and mind and the four kinds of passions anger, pride, deceit and greed.

PAGE 52LINE 4. लक्षण, प्रमाण, नय and निक्षेप Knowledge of the soul and the non-soul is not possible except through these four.

LINE 8. लक्षण is that which helps us to distinguish between different things. It is of two kinds. आत्मभूत one's own inherent quality. e. g. heat is the quality of fire, consciousness

is the quality of Atma, colour, taste, smell, touch etc. are the characteristics of matter. अनात्मभूत is the quality which is attributed to a thing for the time being, but which is not its inherent characteristic, e. g. to call a man having a stick (danda) as the stick man.

PAGE 53 LINE 7. लक्षणाभास is defined as the fallacy of attributing to a thing a quality which is not its own. It is of three kinds, अव्याप्त, अतिव्याप्त and असंभवि. Avyapta is that which is not found in all the objects belonging to a species, e. g. a specific colour of a cow is not found in all the cows. Ativyapta to attribute the name of a bigger class to a smaller one, e. g. cows are animals. But really animals include not only cows but buffaloes and several other kinds of quadrupeds. Asambhavi is to speak of a thing as having an impossible attribute e. g. to describe a man as possessing a horn.

PAGE 58 LINE 8 सम्यग्ज्ञान–right knowledge. मिथ्याज्ञान false knowledge.

PAGE 61 LINE 11. प्रत्यक्षप्रमाण immediate and direct apprehension of reality परोक्षप्रमाण Mediate and indirect apprehension of reality.

PAGE 62 LINE 5 सांव्यवहारिक is knowledge which is derived through the five senses and mind for worldly purposes.

LINE 9. अवग्रह is the initial knowledge about an object after it is brought into contact with a sense organ

PAGE 62 LINE 10. ईहा is the desire to know the particulars of the object

PAGE 63 LINE 1, आवाय is the definite finding of the particulars.

LINE 2, धारणा is the lasting impression which results after the object with its particulars, is definitely ascertained. This impression enables us to remember the object afterwards.

PAGE 64 LINE 3 As these four Avagraha etc. are due to sense perception, they are called इन्द्रियप्रत्यक्ष.

LINE 4. Mind (manas) is called अतीन्द्रिय and knowledge through Mind is अतीन्द्रियप्रत्यक्ष.

PAGE 65, LINE 6. पारमार्थिकप्रत्यक्ष is that which is apprehended by Atma immediately and directly. It is of two kinds सकल (perfect) and विकल (imperfect) केवलज्ञान (omniscient knowledge) comes under Sakala Pratyaksha. अवधि (the psychic knowledge which is directly acquired by the soul without the medium of the mind or the senses) and मनःपर्यय (knowledge of the ideas and thoughts of others) come under Vikala Pratyaksha.

PAGE 66 LINE 7 सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य The subject matter of Kevala Jnana is all the substances in all their modifications. Kevala Jnana or omniscience is knowledge unlimited as to space, time or object.

PAGE 69, LINE 5. Paroksha Pramana is of five kinds, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान and आगम.

PAGE 32, LINE 5. स्मृति is the remembrance of an object once seen. प्रत्यभिज्ञान is identifying that object with what we have seen, read or heard about तर्क is knowledge of

is named Udyogajanya, and Himsa committed in protecting oneself from enemies is said to be Virodhajanya.

PAGE 142, LINE 10. The above four forms of himsa are in relation to laymene. In the life of a मुनि or ascetic these are not possible. A Muni regards all alike. There is no difference for him between a friend and a foe or between praise and abuse All his actions are permeated with Ahimsa.

PAGE 148, LINE 2, सम्यग्दर्शन or right belief should be free from pride due to caste etc.

PAGE 154, LINE 3, निक्षेप is an aspect from which things are studied.

PAGE 156, LINE 4. निक्षेप is of four kinds:-नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ।

नामनिक्षेप–the mere naming of a person even though he may not possess the qualities connected by the name e. g. naming a man Mahavira even though he may have no bravery or वीरत्व in him. स्थापना निक्षेप-is the representation of one thing by another. It is of two kinds:-तद्भव and अतद्भव. The first is the representation of a person by his statue or picture. The second is the representation by symbols or letters, e. g. X is equal to 100.

PAGE 159, LINE 9, द्रव्य निक्षेप is attributing to a person the qualities which he may possess only latter on e. g. to call a Yuvaraja as Raja.

PAGE 160, LINE 3. It is of two kinds:-आगमद्रव्यनिक्षेप and नो आगमद्रव्यनिक्षेप Agama Dravya Nikshepa e. g. to call a

Raja as such though he may not be performing the duties of a Raja at that time.

PAGE 161, LINE 5 No-Agama Dravya Nikshepa is of three kinds ज्ञातृशरीरम्, भावि, तद्व्यतिरिक्त ।

Jnatri Sariram is to call the Rajas's body as the Raja.

Bhavi is to call a person a king even though he will be a king only in the future.

Tadvyatirikta is the determining cause of the पदार्थ ।

PAGE 163, LINE 9 Bhava Nikshepa giving a thing a name to connote the attributes of its present condition. It is also of two kinds. Agama-Bhava. Nikshepa, when the soul knows and is actually attentive. No Agama Bhava Nikshepa, when the actual present condition of a thing is referred to, e. g. to call the present ruler a king.

is named Udyogajanya, and Himsa committed in protecting oneself from enemies is said to be Virodhajanya.

PAGE 142, LINE 10. The above four forms of himsa are in relation to laymene. In the life of a मुनि or ascetic these are not possible. A Muni regards all alike. There is no difference for him between a friend and a foe or between praise and abuse All his actions are permeated with Ahimsa.

PAGE 148, LINE 2, सम्यग्दर्शन or right belief should be free from pride due to caste etc.

PAGE 154, LINE 3, निक्षेप is an aspect from which things are studied.

PAGE 156, LINE 4. निक्षेप is of four kinds:-नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ।

नामनिक्षेप—the mere naming of a person even though he may not possess the qualities connected by the name e. g naming a man Mahavira even though he may have no bravery or वीरत्व in him. स्थापना निक्षेप-is the representation of one thing by another. It is of two kinds:-तद्भव and अतद्भव. The first is the representation of a person by his statue or picture. The second is the representation by symbols or letters, e. g. X is equal to 100.

PAGE 159, LINE 9, द्रव्य निक्षेप is attributing to a person the qualities which he may possess only latter on e. g. to call a Yuvaraja as Raja.

PAGE 160, LINE 3. It is of two kinds:-आगमद्रव्यनिक्षेप and नो आगमद्रव्यनिक्षेप Agama Dravya Nikshepa. e. g. to call a

Raja as such though he may not be performing the duties of a Raja at that time.

PAGE 161, LINE 5 No-Agama Dravya Nikshepa is of three kinds ज्ञातृशरीरम्, भावि, तद्व्यतिरिक्त ।

Jnatri Sariram is to call the Rajas's body as the Raja.

Bhavi is to call a person a king even though he will be a king only in the future.

Tadvyatirikta is the determining cause of the पदार्थ ।

PAGE 163, LINE 9 Bhava Nikshepa giving a thing a name to connote the attributes of its present condition. It is also of two kinds. Agama-Bhava. Nikshepa, when the soul knows and is actually attentive No Agama Bhava Nikshepa, when the actual present condition of a thing is referred to, e. g. to call the present ruler a king.